गुरु अर्जुनदेव : व्यक्तित्व और कृतित्व

(पंजाब विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

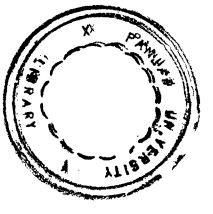

परमजीत कौर

१९७१

विषय सूची

भूमिका 3 – 6

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की प्रेरणा, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय-विवेचन, आभार स्वीकृति ।

विषय – प्रवेश 7 – 21

गुरु-परम्परा और गुरु अर्जुनदेव ।

प्रथम अध्याय : जीवन-परिचय 22 – 50

जन्म-तिथि, बाल्यावस्था, शिक्षा-प्राप्ति, लाहौर-गमन, पृथीचन्द का द्वेष-भाव, वैवाहिक जीवन, बन्धुवाड तथा अन्य विरोधियों के षड्यंत्र, बलिदान, निर्माण-कार्य, व्यक्तित्व, कृतित्व, सारांश ।

द्वितीय अध्याय : दार्शनिक विचारधारा 51 – 92

दर्शन और काव्य का सम्बन्ध, परमात्मा का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप, माया का स्वरूप, सृष्टि-रचना, सारांश ।

तृतीय अध्याय : संगीत-भावना 93 - 166

संगीत के तत्त्व, गुरुमहात्म्यासंगीत, दासासंगीत, पूजासंगीत, स्मरणासंगीत, दास्यासंगीत, सख्यासंगीत, कान्तासंगीत, वात्सल्यासंगीत, तन्मयतासंगीत, परमविरहासंगीत, आत्मनिवेदनासंगीत, संगीत के सोपान, अवरोधक संगीतयाँ, संगीत के उपकरण, सारांश ।

चतुर्थ अध्याय : काव्य-कला 167 - 257

काव्य-परिचय, रस, कल्पनासंगीत, प्रकृति-चित्रण, भाषा, अलंकार, शब्द-चित्र, प्रतीक-चित्रण, काव्य-गुण, छन्द-संगीतयाँ, संगीतात्मकता, राग-योजना, तुक-योजना, छंद-योजना, सारांश ।

पंचम अध्याय : सम्पादन-कला 258 - 314

आदिग्रन्थ के सम्पादन की आवश्यकता, सम्पादित सामग्री, सामग्री के प्राप्ति-स्रोत, सम्पादन-कला, वाणीक्रम, भाषा का स्वरूप, आदिग्रन्थ का महत्त्व, सारांश ।

उपसंहार 315 - 321

गुरु अर्जुनदेव का महत्त्व ।

सहायक ग्रन्थ सूची 322 - 328

संस्कृत-ग्रन्थ, हिन्दी-ग्रन्थ, कोश, ग्रन्थ, पंजाबी-ग्रन्थ, अंग्रेज़ी भाषा-ग्रन्थ ।

****

भूमिका

भूमिका

अपने परिवार के धार्मिक वातावरण के कारण बाल्यावस्था से ही सिक्ख-धर्म के प्रति मुझे अभिरुचि हो गई थी । बौद्धिक विकास के साथ-साथ मेरी इस अभिरुचि में भी प्रौढ़ता एवं उदारता आती गई, जिसे आदिग्रन्थ की धार्मिक उदारता से पूर्ण परितोष मिला । फलतः गुरु अर्जुनदेव के प्रति मेरे मन में श्रद्धा बसवती होती गई और उन्हें अधिक निकट से जानने की इच्छा और भी प्रबल हो गई । फलतः उनपर उपलब्ध सम्पूर्ण साहित्य का मैंने आलोड़न-विलोड़न कर डाला, लेकिन मनस्तोष न हुआ । यह असंतोष जिज्ञासा को बढ़ाता रहा । और प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी जिज्ञासा का परिणाम है ।

इस शोध प्रबन्ध का प्रतिपाद्य पाँच अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में गुरु अर्जुनदेव के जीवन का परिचय है । इस परिचय को प्रस्तुत करने में ऐतिहासिक तथ्यों तथा श्रद्धान्विता अनुश्रुतियों का उपयोग किया गया है । इसी अध्याय में इनकी कृतियों का भी परिचय दिया गया है । द्वितीय अध्याय में इनकी दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण है जो शास्त्रानुमोदित है । अतः विभिन्न

दार्शनिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या की गई है । तृतीय अध्याय में इनकी मनित-भावना का विवेचन है । यह विवेचन ग्यारह आसक्तियों के आधार पर किया गया है, क्योंकि ये ही इनकी मनित-भावना का विश्लेषण करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त आधार हैं । चतुर्थ अध्याय में इनकी काव्य-कला का विवेचन है । गुरू अर्जुनदेव का काव्य हृदय का सहज उच्छलन है । इनकी काव्य-कला का विवेचन करने के लिए इस सूत्र को ध्यान में रखते हुए भी काव्यशास्त्रीय पद्धति पर इनकी काव्य-कला का मूल्यांकन किया गया है । पंचम अध्याय में इनकी सम्पादन-कला का विवेचन एवं मूल्यांकन है । इस विषय में सर्वाधिक विवादास्पद पक्ष यह है कि गुरू अर्जुनदेव को सम्पादित विशाल-काय आदिग्रन्थ की सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई ? पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस प्रश्न का उत्तर काफी सीमा तक अनुमानाधीन है । अतः अनुमान का आधार लेकर मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन्हें श्रुति परम्परा से भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई थी । साथ ही इनकी सम्पादन कला पर भी प्रकाश डाला गया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में किसी नवीनता का आग्रह नहीं है ; लेकिन पाठक को नवीनता इसलिए मिल भी सकती है क्योंकि गुरू अर्जुनदेव की वाणी का पहले इस दृष्टि से कहीं विवेचन विश्लेषण नहीं हुआ । इस प्रक्रिया में सहज ही जो नवीन निष्कर्ष निकल आए हैं उन्हें अवश्य प्रस्तुत कर दिया गया है । मुझे विश्वास है कि ये निष्कर्ष इस क्षेत्र के भावी अनुसंधानार्थों के लिए सहायक सिद्ध होंगे ।

इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में जो प्रेरणा तथा मार्गदर्शन मुझे आदरणीय डा. हरनाम सिंह मदान तथा डा. धर्मपाल मैनी से मिला है उनके बिना इसका इस रूप में आना और पूर्ण होना असम्भव ही था । अतः मैं इन दोनों गुरूजनों की विशेष आभारी हूँ । और उन सबकी भी जिनकी कृतियों ने मेरा ज्ञानवर्द्धन और बहुत कुछ मनकतोष किया ।

एक बात और, इस शोध प्रबन्ध का टंकण भारत सरकार द्वारा स्वीकृत आधुनिक टंकन-यंत्र से हुआ है । परिणामतः इसमें रोमन अंकों का प्रयोग है ।

परमजीत कौर

(परमजीत कौर)

विषय – प्रवेश

विषय – प्रवेश

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन ! जब-जब धर्म का नाश होता है और अधर्म प्रबल हो जाता है तब तब साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का नाश करके धर्म की स्थापना करने के लिए मैं स्वयं ही अवतार लिया करता हूँ ।[1] इस वक्तव्य को सम्प्रदाय-विशेष की दृष्टि से न देख कर यदि सामान्य मानव-भूमि पर स्थिर होकर देखा जाए तो सहज ही यह अर्थ निकल आता है कि जब-जब समाज में अधर्म, अन्याय और अत्याचार आदि दुर्गुण फैलते हैं तब-तब उनके विनाश और धर्म की स्थापना के लिए कोई-न-कोई महापुरुष जन्म लेता है। यदि हम भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो इस कथन को अक्षरशः सत्य पाते हैं । जब-जब भी समाज में अव्यवस्था प्रबल हुई है,

---

1 यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
— गीता, 4–7 तथा 8

उसको नष्ट करने के लिए और समाज को व्यवस्थित रूप देने के लिए कोई-न-कोई न महापुरुष सामाजिकक्षेत्र में आया है । भारत अध्यात्म-प्रधान देश है । अतः इसकी सभी व्यवस्थाओं और अव्यवस्थाओं का समाधान धर्म में होना और खोजना स्वाभाविक ही है । यही कारण है कि इस देश में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा धार्मिक क्षेत्र में अधिक क्रान्तियाँ हुई हैं । गुरुओं की परम्परा इन्हीं क्रान्तियों की परिणति है ।

गुरु-परम्पराओं के इतिहास में पंजाब की गुरु-परम्परा अधिक व्यापक और व्यवस्थित है । इसमें गुरु नानक देव से लेकर गुरु गोविन्दसिंह तक दस गुरुओं का धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक इतिहास अंकित है । गुरु अर्जुनदेव इसी परम्परा के जाज्वल्यमान रत्न हैं ।अतः यहीं पर इस परम्परा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा ।

सिक्ख-धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेव इस परम्परा के प्रथम गुरु हैं । इनका जन्म विक्रम संवत् 1526 के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया को तलवंडी में मेहता कालू के घर हुआ था । बचपन में ही इनका ध्यान प्रभु-प्रेम की ओर आकर्षित हो गया था । इसीलिए विवाह के पश्चात् भी गृहस्थ-जीवन में इनका मन न लगा । ये सब कुछ त्यागकर संन्यासी हो गए और 'न को हिन्दू न को मुसलमान' का महान् संदेश लेकर अपनी यात्राओं पर निकल पड़े ।

गुरु नानक देव के समय में भारत मुस्लिम आक्रांताओं के आधीन हो चुका था । वे हिन्दू जनता को भाँति-भाँति के कष्ट देकर धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया करते थे । मुस्लिम राजा विजित देशों की जनता को भाँति-भाँति के भीषण कष्ट देते थे । स्त्रियों की भी दुर्दशा की जाती थी । इन सब

का वर्णन गुरु नानकदेव ने अपनी वाणी में किया है ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि इन अत्याचारियों के प्रति गुरु नानकदेव के मन में अपार आक्रोश और पीड़ितों के प्रति असीम सहानुभूति एवं करुणा थी ।[2] मुस्लिम राजाओं ने हिन्दू जनता को कष्ट देने के लिए यात्रा-कर, तीर्थयात्रा-कर, धार्मिक पर्वों, मेलों, उत्सवों आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिए थे । नए मन्दिरों का निर्माण तथा पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर भी रोक लगा दी थी । जो भी व्यक्ति मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लेता था, उसे ऊँची-ऊँची पदवियाँ

---

1 जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ सिंदूर ।
से सिर काती मुनीअनि गल विचि आवै धूड़ि ।
महला अंदरि होदीआ हुण बहनि न मिलन्ह हदूरि ॥
आदेसु बाबा आदेसु ॥
आदि पुरख तेरा अंतु न पाइआ करि करि देखहि वेस ।
जदहु सीआ बीआहीआ लाड़े सोहनि पासि ।
डी डोली चढ़ि आईआ दंद खंड कीते रासि ।
उपरहु पाणी वारीऐ चले झिमकनि पासि ॥ 2 ॥
इकु लखु लहनि वहिठीआ लखु लहन्हु खड़ीआ ।
गरी छुहारे खादीआ माणनि सेजड़िआ ॥
तिन्ह गलि सिलका पाईआ तुटनि मोतसरीआ ।
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 417

2 खुरासान खसमाना कीआ हिंदुसतान डराइआ ।
आपै दोसु न देई करता जमु करि मुगलु चड़ाइआ ।
एतीमार पई करलाणे तै की दरदु न आइआ ॥
करता तू सभना का सोई ।
जे सकता सकते कउ मारे ता न मनि रोसु न होई ॥
सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई ॥
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 360

तथा कई प्रकार के पुरस्कार दिए जाते थे । ऐसी परिस्थितियों में हिन्दू-धर्म के संरक्षकों ने अपने धर्म को सुरक्षित रखने के लिए अपने धार्मिक नियमों को और भी कठोर बनाकर उसका क्षेत्र सीमित कर दिया था । अतः हिन्दू-धर्म बाह्याडम्बरों और रूढ़ियों का शिकार होता चला गया । ब्राह्मण भी पाखण्ड पूर्ण धर्म में रत हो गए और मात्र दिखावे के लिए ही पूजा-पाठ करने लगे । सामान्य जनता तत्कालीन शासकों की भाषा से घृणा करती थी, इसलिए कुछ लोग शासकों को प्रसन्न करने के लिए अरबी और फारसी का अध्ययन भी छुप-छिपकर करते थे । हिन्दू-धर्म की इस नई नीति का शिकार शूद्रों और नीच जातियों को बनना पड़ा । उनको तो पहले ही कोई स्वतंत्रता न थी । मन्दिरों आदि में उनका प्रवेश निषिद्ध था । उच्चवर्गीय उनकी छाया से भी घृणा करते थे । जिसके कारण नीति-रीति का भेद-भाव और भी अधिक बढ़ गया था ।

यह धार्मिक पतन केवल हिन्दू-धर्म में ही नहीं आया था, बल्कि उस समय मुस्लिम (इस्लाम) धर्म भी पतन की ओर था । उसमें भी हिन्दू-धर्म की भाँति काज़ी और मौलवी की दो श्रेणियाँ बन गई थीं, जो ब्राह्मणों की भाँति धर्म के रक्षक माने जाते थे । अतः ये लोग भोली-भाली जनता को बाह्याडम्बरों में फँसाकर धार्मिक भावनाओं से दूर ही रखते थे । काज़ी शासकों की ओर से न्यायाधीश बनाए जाते थे । इस लिए सीधी-सादी जनता को उनके अत्याचारों का शिकार होना पड़ता था । इसका वर्णन करते हुए गुरु नानकदेव ने लिखा है -

काजी हो के बहि निआइ, फेरत सबी कहै खुदाइ ।
वडी लैके इक गवाइ, जो को पुछै ता पढ़ सुनाइ ॥

इन परिस्थितियों में रहने वाली जनता की असली नाड़ी पहचानने वाले गुरु नानकदेव ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने का आंदोलन चलाया । हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य का मुल कारण उनके धार्मिक आडम्बर थे । इनके मिटने से ही इनमें एकता स्थापित हो सकती थी । हिन्दू-धर्म के मुख्य धार्मिक

विवादों को, विशेषतः ब्रह्म के विविध रूपों को, समाप्त करके केवल एक ही ब्रह्म का उपदेश दिया । उन्होंने जाति-पाँति, ऊँच-नीच और रीति-रिवाजों के विरुद्ध प्रचार तथा प्रबल शब्दों में उनका खंडन किया । उन्होंने गृहस्थ-धर्म के मध्यम मार्ग को अपनाकर ही प्रभु-प्राप्ति का सरल साधन 'नाम मार्ग' बताया । सभी मतों के नियमों का संशोधित परिवर्द्धित रूप गुरु नानकदेव के भक्ति-नियमों में मिलने के कारण ही इनको पंजाब में भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्तक माना जाता है ।

गुरु नानकदेव ने सिक्ख-धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए अपने पश्चात् लहना को, जो बाद में गुरु अंगद कहलाए, अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके अपूर्व बुद्धिमत्ता का परिचय दिया ।

इस परम्परा के द्वितीय गुरु अंगददेव जी का जन्म 31 मार्च 1504 ई. को फेरूमल के घर जिला फिरोज़पुर मत्ते दी सराँ नामक गाँव में हुआ था । प्रारम्भ में गुरु अंगददेव देवी के भक्त थे, परन्तु जब 1534 ई. में ज्वालामुखी की यात्रा पर जाते समय ये गुरु नानक के नगर करतारपुर में ठहरे, तो यहीं इनकी भेंट गुरु नानकदेव जी से हुई, जिनके उपदेश सुनकर ये सिख बन गए और कुछ समय पश्चात् ये गुरु नानकदेव जी के साथ ही रहने लगे ।

गुरु अंगद देव ने उस समय जनता की कठिनाई को समझते हुए तथा सिख-धर्म की उन्नति के लिए पंजाबी भाषा को लोकप्रिय बनाने की कई योजनाएँ बनाईं । इन योजनाओं में ये कार्य सम्मिलित थे — गुरुमुखी-लिपि का व्याकरण (प्राइमर) तैयार किया और बाबा बुड्ढा जैसे पुरुषार्थी व्यक्ति को इसके प्रचार का काम सौंपा । गुरु नानक द्वारा स्थापित धर्म के अनुयायियों में प्रेम तथा एकता की भावना पैदा करने के लिए लंगर की प्रथा को अधिक प्रचलित किया जिससे ऊँच-नीच का भेद-भाव मिट जाए । उदासियों (संन्यास) को सिख-धर्म

से निकाल कर स्पष्ट कर दिया कि यह धर्म व्यावहारिक प्रवृत्ति का धर्म है। सबसे महत्वपूर्ण काम इन्होंने यह किया कि गुरु नानकदेव की रचनाओं का एक संग्रह तैयार करवाया तथा उनकी जीवनी (जन्मसाखी) भी लिखवाई।[1]

सिखों के तृतीय गुरु अमरदास का जन्म 5 मई 1479 ई. में जिला अमृतसर के बासरके नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम तेजभान तथा माता का नाम सुलक्षणी था। प्रारम्भिक जीवन में ये वैष्णव मत थे; अतः व्रत, उपवास आदि में ये विश्वास रखते थे और प्रायः प्रत्येक वर्ष गंगा-स्नान के लिए जाया करते थे। बाद में गुरु अंगददेव जी की पुत्री बीबी अमरो से उनकी वाणी सुनकर बहुत प्रभावित हुए और उनके परमभक्त बनकर उनके पास ही खडूर साहब में रहकर दिन-रात उनकी सेवा करने लगे। इन्हें 1552 ई. में गुरु-गद्दी की प्राप्ति हुई।

गुरु-गद्दी संभालने पर गुरु अमरदास को कई प्रकार की कठिनाइयों और विरोधों का सामना करना पड़ा, क्योंकि उस समय गुरुगद्दी के लिए भी कई प्रत्यार्थी उठ खड़े हुए थे। एक ओर गुरु नानकदेव के सपुत्र श्रीचन्द गुरु नानकदेव के उपदेशों को उदासी विचारों के अनुकूल ठहराकर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे और स्वयं को गुरु अंगददेव के बाद गुरुगद्दी का उत्तराधिकारी मानते थे। दूसरी ओर गुरु अंगद के भैरू पुत्र दातू भी अलग से ही गुरुगद्दी स्थापित कर बैठे थे। इन सब विरोधों का सामना गुरु अमरदास ने बहुत ही बुद्धिमत्ता से किया। इन्होंने किसी के विरुद्ध कुछ नहीं कहा, बल्कि गुरु द्वारा बताए गए नियमों का प्रचार ही करते रहे। अंत में जनता अपने आप ही असल गुरु को पहचान गई। गुरु अमरदास को तत्कालीन हिन्दुओं और मुसलमानों के विरोधों का भी सामना करना पड़ा। हिन्दुओं ने

---

1 (क) ट्रांसफरमेशन आफ सिविल्ज, पृष्ठ 40

(ख) पंजाब का इतिहास। पृथीपाल सिंह नोगिम्बर सिंह,

तो इनकी शिकायत अकबर से भी की, परन्तु अकबर ने जब पूरी स्थिति की जानकारी प्राप्त की तो गुरु अमरदास से कहा कि आप इन निन्दकों की बात पर कोई ध्यान न दें और हिन्दुओं के तीर्थों पर जाकर उनको सच्चा रास्ता दिखाएँ । उसने इनकी यात्रा के समय तीर्थयात्रा-कर माफ कर दिया और अपनी धार्मिक सहनशीलता का परिचय दिया ।

अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गुरु अमरदास ने पंजाब में अलग-अलग प्रान्तों में प्रतिनिधि नियुक्त किए । गुरु नानक द्वारा स्थापित उदार विचारों वाले धर्म में कहीं संकीर्णता न आ जाए, इस बात को ध्यान में रखते हुए इन्होंने भक्त-वाणियों का संग्रह भी करवाया और द्वितीय गुरु अंगददेव जी की वाणी को भी गुरु नानक देव जी की वाणी के साथ ही लिपिबद्ध करवाया । सारी संगत में गुरुबाणी की महत्ता स्थापित करने के लिए "गुरु का शब्द रत्न है" कह कर उसे सर्वोच्च स्थान दिया । ।

इस परम्परा के चतुर्थ गुरु रामदास जी का जन्म 24 सितम्बर 1534ई. में चूनामंडी लाहौर सोढी हरिदास के घर हुआ था। छोटी आयु में ही इनके सिर से माता-पिता का साया उठ गया था । इसीलिए इनको अपने ननिहाल बासरके गाँव में रहना पड़ा । प्रारम्भ से ही इनका ध्यान भक्ति की ओर उन्मुख हो गया और गुरु अमरदास के शिष्य बनकर वहीं रहने लगे । इनकी निष्काम सेवा से प्रसन्न होकर गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री का विवाह इनसे कर दिया और 1574 ई. में इनको गुरुगद्दी का अधिकारी भी घोषित कर दिया । गुरु रामदास को तृतीय गुरु अमरदास की भाँति विरोधों का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि तब तक आदिगुरु नानकदेव के पुत्र श्रीचन्द भी जान गए थे कि गुरुगद्दी के वास्तविक अधिकारी सच्चे सेवक हैं न कि गुरु-पुत्र । इनका विरोध करनेवाले बाबा मोहन तृतीय गुरु के ज्येष्ठ पुत्र थे । उन्होंने इन्हें गुरु स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वे स्वयं को ही गुरुगद्दी का अधिकारी समझते थे ।

गुरु रामदास ने अपने शिष्यों को एकत्रित करने के लिए एक केन्द्र स्थापित करना चाहा और अमृतसर नगर का निर्माण करके यहीपर एक सरोवर बनवा दिया । यही 'गुरु का नगर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । ऐसे कामों के लिए धन एकत्र करने का भी इन्होंने उपाय निकाला और अपने प्रतिनिधियों को दूर-दूर के शहरों से धन एकत्र करने के लिए भेजा । अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भी इन्होंने दूर-दूर तक अपने शिष्योंको भेजा ।

इस परम्परा के पंचम गुरु अर्जुनदेव हैं । इनका विस्तृत परिचय प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में दिया गया है ।

सिखों के छठे गुरु हरगोविन्द जी पंचम गुरु अर्जुनदेव के पुत्र थे । अपने पिता के महान् बलिदान के पश्चात् गुरुगद्दी का भार इन्होंने सम्भाला । पूर्व गुरुओं की भाँति शान्त और सौम्य होते हुए भी उस समय के धार्मिक और राजनैतिक विरोधों का सामना करने के लिए इन्होंने गुरु को एक सैनिक रूप भी प्रदान किया । ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने अपने पिता के अंतिम शब्दों 'सेना रखना' को पूर्ण रूप से क्रियान्वित करके दिखा दिया । इन्होंने अपनी सेना में 52 सिपाही भर्ती किए और उनको पूर्ण रूप से सैनिक प्रशिक्षण भी दिया । इनके इस कार्य से अनेक लोगों को उत्साह मिला और कुछ ने इनकी आलोचना भी की, क्योंकि उन्होंने इससे पहले 'संत' गुरुओं को ही देखा था । इन्होंने तत्कालीन शासकों का विरोध करने के लिए अपने-आपको दाढ़ी डोबे में डालकर गुरु-जीवन में जो उल्लेख्य परिवर्तन किए वे ये हैं — सिखों को सैनिक प्रशिक्षण देना, नित्य प्रति शिकार खेलने जाना, बाज, शिकारी कुत्ते आदि पालना,[1] अपने सैनिकों को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए मांसाहारी भोजन का प्रयोग करना और संगत में होने वाले नित्य के कीर्तन में जोशीले फैजी संगीत को बढ़ावा देना । परिणामतः थोड़ी ही समय में इनके पास पर्याप्त सिपाही, घुड़सवार, योद्धों का तबेला और बंदूकची हो गए ।

---

1. भाई गुरदास - वार 26 (24)

गुरू हरगोविन्द जी को अपने जीवन काल में मुगलों के साथ चार युद्ध करने पड़े । पहला सन् 1628 ई. में अमृतसर में, दूसरा सन् 1630 ई. में हरगोविन्दपुर में, तीसरा सन् 1631 ई. में लहरे में तथा चौथा सन् 1634 ई. में करतारपुर में । इन चारों युद्धों में मुगल सेना इनको हराने में असफल रही । अपने सीमित साधनों से ही इन्होंने शत्रु सेना के दांत खट्टे कर दिए । इन युद्धों के पश्चात् इन्होंने धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देना उचित समझा ।

गुरू हरगोविन्द जी ने अपने समय की गति को पहचानते हुए 'मीरी और पीरी' की दो तलवारें' धारण करके अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया । गुरू अर्जुनदेव जी की शहीदी के पश्चात् सिख निराश हो चुके थे, अतः उनमें उत्साह भरने का काम तथा उनको सही मार्ग दिखलाना किसी सामान्य नेता के बस का काम न था । इसीलिए इन्होंने अनोखी प्रतिभा से अल्पायु में ही ऐसा कार्य कर दिखलाया, जिसने सभी सिखों को आत्म-रक्षक तो बनाया ही, साथ ही बलिदान देना भी सिखलाया । यदि गुरू हरगोविन्द को प्रथम 'सिख जनरल' कहा जाए, ऐसा जनरल जिसने सिख धर्म को मुगल शासकों की धार्मिक असहनशीलता के विरुद्ध सफलता सहित टक्कर लेनी सिखलाई और सिख धर्म की नींव सुदृढ़ की, तो अनुचित न होगा ।

सिखों के सातवें गुरू हरराय जी का जन्म 1630 ई. को बाबा गुरदित्ता जी के घर हुआ । आप गुरू हरगोविन्द के पौत्र थे । 14 वर्ष की आयु में ही इन्हें गुरू गद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया गया । इन्होंने गुरू हरगोविंद जी द्वारा प्रचलित किए गए नियमों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया । वरन् उनके चरण-चिन्हों पर ही चलते गए । इन्होंने धर्म-प्रचार में विशेष ध्यान दिया । इनके प्रयत्नों से ही पूर्वी भारत में उपदेशक गद्दियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई ।

अपने दादा गुरू हरगोविन्द जी द्वारा संगठित की गई सेना में वृद्धि करके इन्होंने 2200 हथियार बन्द सैनिक कर लिए । ये शांत प्रकृति के थे,

इसलिए उन्होंने सैनिक कार्यवाही को पूरा करते हुए भी शांति स्थापित रखने पर ही अधिक बल दिया । फिर भी इनको अपने जीवन में शाही सेना का सामना करना पड़ा । शाहजहाँ के पुत्र दारा की सहायता करने के दोष में औरंगजेब ने इनको दिल्ली के शाही दरबार में उपस्थित होने के लिए कहा परन्तु उस समय उन्होंने अपने बड़े पुत्र रामराय को उत्तर देने के लिए भेजा । जिन्होंने यह स्पष्ट किया कि दारा की सहायता विद्रोही के रूप में नहीं की गई थी, बल्कि वह धार्मिक गुरुओं द्वारा विपत्तिग्रस्त मनुष्य की सहायता थी । औरंगजेब यह जानना चाहता था कि सिक्ख-धर्म कहीं इस्लाम-विरोधी तो नहीं है, इस लिए उसने रामराय से गुरु नानक द्वारा रचित आसा की वार की निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या करने को कहा —

" मिट्टी मुसलमान की पेड़े पई कुमिआर ।
घड़ भांडे इंटा किआ जलदी करे पुकार ।"[1]

रामराय औरंगजेब की धार्मिक अनुदारता से परिचित थे । वे नहीं चाहते थे कि सिक्ख-धर्म भी औरंगजेब के क्रोध का शिकार बने, इसीलिए उन्होंने इन पंक्तियों में आए 'मुसलमान' शब्द का अर्थ 'बेईमान' बताकर औरंगजेब की उत्सुकता को शांत किया । जब इस बात का पता गुरु हरराय जी को चला कि मेरे पुत्र ने झूठ बोलकर गुरुवाणी का अर्थ बदल कर बताया है तो वे बहुत क्रोधित हुए और इनसे मिलने से भी इन्कार कर दिया । इसी अप्रसन्नता के कारण गुरु ने गुरु-गद्दी भी अपने छोटे पुत्र पाँच वर्षीय हरिकृष्ण जी को सौंप दी ।

गुरु हरिकृष्ण जी ने यद्यपि बचपन में ही गुरु-गद्दी का भार संभाला, परन्तु अपनी योग्यता और बुद्धिमत्ता से सब सिखों को बता दिया कि उनमें इतनी योग्यता है कि वे सबका मार्ग-दर्शन कर सकते हैं । जब इनको गद्दी मिली तो इनके बड़े भाई रामराय ने कुछ सिखों के कहने पर स्वयं को गुरु-गद्दी का

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, पृष्ठ 466

अधिकारी प्रोत्साहित किया और राजा औरंगजेब के पास शिकायत भी की । प्रथम तो औरंगजेब बालगुरु के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने को तैयार न हुआ, परन्तु जब रामराय ने अधिक दबाव डाला, तो उसने गुरु हरिकृष्ण को दिल्ली के दरबार में उपस्थित होने के लिए राजा जयसिंह अम्बर के द्वारा संदेश भिजवाया । बाल गुरु औरंगजेब से मिलने दिल्ली आए । इनकी बातों तथा व्यवहार से संतुष्ट होकर औरंगजेब ने रामराय को बता दिया कि गुरु-गद्दी का वास्तविक अधिकारी बालक हरिकृष्ण ही है ।

गुरु हरिकृष्ण अभी दिल्ली में ही थे कि इन्हें बहुत तेज़ बुखार हुआ और साथ ही चेचक भी निकल आई जिससे ये कई दिन बेहोश रहे । एक दिन होश में आनेपर अपने शिष्यों को "बाबा बकाले' कह कर 30 मार्च 1664 ई. को स्वर्गवासी हुए ।

गुरु हरगोविन्द जी के पुत्र गुरु तेगबहादुर जी सिखों के नवम गुरु थे । 1664 ई. में जब गुरु हरिकृष्ण जी ने अपने अंतिम समय में 'बाबा बकाले' कहकर इनको गुरु-गद्दी सौंप दी तो बकाले में कई व्यक्तियों ने गुरु-गद्दी की स्थापना कर ली और चारों ओर गुरु ही गुरु दिखाई देने लगे । जनता के लिए अपने सच्चे गुरु को खोज निकालना कठिन हो गया । 1665 ई. की वैसाखी को बकाले में भारी संख्या में सिखों ने एकत्र होकर सच्चे गुरु को खोज निकालने की ठानी । गुजरात काठियावाड़ के एक व्यापारी मक्खनशाह ने अन्त में सच्चे गुरु को खोज ही लिया । अतः सभी सिखों के सम्मुख इनको गुरु-गद्दी पर बिठाया गया जिससे सभी नकली गुरुओं को वहाँ से भागना पड़ा ।

जब आपको गुरु-गद्दी का भार सौंपा गया, उस समय आपकी आयु 44 वर्ष की थी । आप गम्भीर और सुलझे हुए विचारों के व्यक्ति थे । आपको अपने भतीजे धीरमल तथा कई अन्य प्रचारक प्रतिनिधियों के विरोधों का भी सामना करना पड़ा । धीरमल ने तो आपको मरवाना भी चाहा, परन्तु वह अपनी चाल में सफल न हो सका । इस विरोध के कारण गुरु तेग बहादुर ने बकाले को छोड़कर अमृतसर में रहना चाहा । परन्तु वहाँ भी स्वर्ण मन्दिर के संचालकों ने

इनको न रहने दिया, क्योंकि उस समय वे संचालक भी भ्रष्टाचार में फँस कर अन्य व्यक्तियों की चाटुकारिता में लगे हुए थे। वे नहीं चाहते थे कि गुरू तेगबहादुर यहीं रहकर इस स्वर्ण मन्दिर पर कब्जा कर लें। यहाँ से वापिस आकर इन्होंने आनन्दपुर नगर की स्थापना की।

इन सब समस्याओं से निपट कर इन्होंने धर्म-प्रचार की ओर ध्यान दिया। धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने मालवा, कुरुक्षेत्र, आगरा, बनारस सासराम, गया और आसाम आदि कई नगरों की स्वयं यात्रा की और जनता की भलाई के लिए कई कार्य करवाए।

तत्कालीन राजा औरंगजेब इस्लाम प्रचार के लिए कई प्रकार के ढंग निकाल रहा था और जनता को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश कर रहा था। गुरू तेगबहादुर ने इसका मुकाबला करने के लिए धर्म-प्रचार का नया ढंग निकाला। उन्होंने अपने धर्म का प्रचार मुस्लिम जनता को प्रभावित करने के लिए शुरू कर दिया, अतः कई मुस्लिम प्रभावित होकर सिख बन गए। कट्टर मुस्लिम औरंगजेब इसको कैसे सहन कर सकता था। उसने कुछ लोगों की शिकायतें सुनकर गुरू तेगबहादुर जी की गिरफ्तारी की आज्ञा दी। बंदी बनाकर इनको दिल्ली लाया गया और कहा गया कि ये इस्लाम धर्म स्वीकार करलें या अपना शीश कटवाएँ। गुरू जी ने धर्म-परिवर्तन के लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया और शीश कटवाने के लिए तैयार हो गए। अतः औरंगजेब की आज्ञानुसार ।। नवम्बर 1675 ई. को चाँदनी चौक में इनका शीश कटवा दिया गया।

सन् 1675 ई. में 9 वर्ष की आयु में गुरू तेगबहादुर जी के इकलौते पुत्र बालक गोविन्दराय (जो बाद में गुरू गोविन्द सिंह कहलाए) ने गुरु-गद्दी का भार सम्भाला। बचपन से ही गोविन्दराय सैनिक खेलों में रुचि लेते थे। कई बार तो अपने साथियों के साथ मिलकर दरबार भी लगाया करते थे। इनके पिता ने इन की शिक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया और गुरमुखी, फारसी और संस्कृत के अध्यापक नियुक्त किए। इनकी सैनिक शिक्षा का भी पूरा प्रबन्ध किया गया था। ऐसे ही

वातावरण में शिक्षित होने के कारण ही बालक गोविन्दराय गुरु-गद्दी का भार सम्भालने और लोगों का मार्ग-प्रदर्शन करने में सफल हुए ।

जिस समय गुरु गोविन्दराय ने गुरु-गद्दी सँभाली उस समय इनको अपने कई विरोधियों का सामना करना पड़ा, क्योंकि अब तक सिख-धर्म में विरोधियों ने अपने कई संगठन स्थापित कर लिए थे । इन विरोधियों में धीरमल, रामराय और धर्म-प्रचारक प्रतिनिधि गुरुदास आदि के नाम मुख्य हैं । औरंगजेब ने अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे । इसलिए इन्होंने मुगल शासकों के साथ टक्कर लेने के लिए अपनी सैनिक नीति की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया । ये चाहते थे कि सिखों में दासता की भावना न रहे, वे किसी भी प्रकार के स्वयं को हीन न समझें । अतः इन्होंने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाई । इनकी इस नीति से कई पहाड़ी राजा बहुत प्रसन्न थे । उन्होंने इनको बहुमूल्य उपहार भेंट किए । सैनिक शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ इन्होंने पौंटे में एक किला भी बनवा लिया । अपने जीवन काल में इनको भंगानी में फतहशाह तथा कई अन्य राजाओं, नदौन में पहाड़ी राजाओं, आनन्दपुर में दिलावरखाँ के पुत्र रुस्तम, आनन्दपुर में पहाड़ी राजाओं का सामना करना पड़ा तथा निरमोहगढ़, आनंदपुर, धमधेर और बिड़राना आदि में युद्ध करने पड़े ।

धर्म-प्रचार की ओर भी इन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया । इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपने आपको धर्मज्ञान का एकमात्र अधिकारी मानते हैं, इसलिए इनकी इस बात का खंडन करने के लिए अपने पाँच शिष्यों रामसिंह, करमसिंह, गंडासिंह, और धीरसिंह एवं शोभासिंह[1] को काशी में संस्कृत की शिक्षा पाने के लिए भेजा । गुरु गोविन्दराय ने देखा कि इतना प्रचार करने पर भी पहाड़ी जनता जाति-पाँति के झगड़ों से ऊपर नहीं उठ पाई थी और पंजाबी जनता के जीवन में भी उत्साह भरने के लिए परिवर्तन की आवश्यकता थी । अतः इन्होंने खालसा पंथ का प्रवर्तन किया । ऐसे नए समाज के निर्माण का आधार गुरु गोविन्द सिंह को

---

1. गुरु शब्द रत्नाकर : भाग सिंह, पृष्ठ 534

विरासत में ही मिला था । पहले नौ गुरुओं ने एक नए समाज की रूप रेखा का ढाँचा तैयार करते हुए इसके अंतिम रूप की ओर भी संकेत कर दिया था ।[1]

गुरु गोविन्द सिंह ने तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने अंतिम समय में, अक्टूबर 1708 ई. को, किसी व्यक्ति विशेष को गुरु-गद्दी न सौंपी । बल्कि इस विवाद को समाप्त करने के लिए इन्होंने सदा के लिए 'आदि ग्रन्थ' को ही गुरु-गद्दी का अधिकारी बना दिया ।

सिख-धर्म की इस परम्परा पर विहंगम दृष्टिपात करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा अन्य धार्मिक परम्पराओं से भिन्न है । इसका मूल कारण यह है कि अन्य परम्पराएँ प्रायः धार्मिक क्षेत्र से बाहर नहीं निकल पाई । कालान्तर में उनमें धर्म एक आडम्बर मात्र बन कर रह गया क्योंकि उन परम्पराओं में सामाजिक पक्ष की पूर्णतया अवहेलना मिलती है। यह परम्परा केवल धार्मिक ही नहीं वरन् सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण रही है । इसके गुरुओं ने समय समय पर परिस्थितियों के अनुकूल अपने नियमों को विकसित कर के इस परम्परा को नवीन जीवन दिया है । धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में तो सभी गुरुओं ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, किन्तु राजनैतिक क्षेत्रों में गुरु अर्जुनदेव के पश्चात् परवर्ती गुरुओं ने जो संघर्ष किए हैं वे अपूर्व हैं और इस तथ्य के प्रमाण हैं कि धर्म-गुरु का कार्य केवल प्रवचन ही नहीं, वरन् समय आने पर रणक्षेत्र में उतरना भी है । साहित्यिक क्षेत्र में गुरु अर्जुनदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । आदिग्रन्थ का महत्वपूर्ण एवं सफल सम्पादन इनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है । इन्हीं कारणों से यह गुरु परम्परा अन्य परम्पराओं से भिन्न है ।

---

1. दि वैसाखी आफ गुरु गोविन्द सिंह। कपूर सिंह, पृष्ठ 8

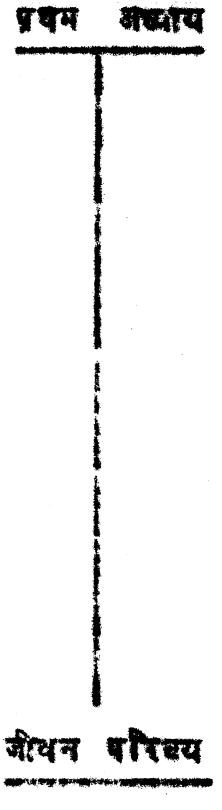
प्रथम अध्याय
जीवन परिचय

जीवन - परिचय

इस धरा पर जब दैवी-वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियों से पराभूत हो जाती हैं तब सर्वत्र अधर्म का प्रचार, अन्याय का प्रसार, सज्जनों का दमन और दुष्टों का उत्कर्ष होने लगता है । इस प्रकार की विषम आवश्यकताओं को नष्ट करने के लिए, धर्म की रक्षा और साधुओं के परित्राण के लिए कोई न कोई युग पुरुष अवतरित हुआ करता है ।[1] गुरु अर्जुनदेव का आविर्भाव इन्हीं युग-पुरुषों की महती शृंखला की एक कड़ी है । भारतीय संत-परम्परा में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इनकी उत्कृष्ट वाणी ने और महान् बलिदान ने समूचे देश को, और विशेष रूप से पंजाब को, जो नवजीवन प्रदान किया, वह इनकी अमर कीर्ति का प्रकाश-स्तम्भ है ।

इनका जन्म 19 वैशाख विक्रमी संवत् 1620, तदनुसार 15 अप्रैल, सन् 1563 ई. को गोइंदवाल में गुरु रामदास जी के यहाँ हुआ था ।[2]

---

1 यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
— गीता, 4-7

2 (क) भाई काहन सिंह : महान कोश, पृष्ठ 60
(ख) प्रिंसिपल तेजा सिंह और गंडासिंह, ए शार्ट हिस्ट्री आफ सिखज़, भाग 1, पृष्ठ 26
(ग) डा. तारन सिंह : श्री गुरुग्रंथसाहिब जी का साहित्यिक इतिहास, पृष्ठ 38।
(घ) डंकन ग्रीनलैस: गोस्पलस आफ गुरुग्रंथसाहिब, पृष्ठ

इनकी पूज्यनीय माता बीबी भानी के नाम से विख्यात है । इनका बचपन ननिहाल में ही व्यतीत हुआ । उस समय इनके नाना गुरू अमरदास जी गुरुगद्दी पर विराजमान थे । 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बचपन से ही इनकी महता का आभास होने लगा था । इनके बचपन की एक घटना अत्यंत प्रसिद्ध है । कहते हैं कि जब ये तीन वर्ष के ही थे, तब ये खेलते-खेलते एक दिन अपने नाना गुरू रामदास जी की चारपाई के पास पहुँचे गए और चारपाई की बाजू (बाही) को पकड़कर खड़े हो गए । वह समय इनके नानाजी के विश्राम करने का था, इसलिए इनकी माता बीबी भानी जी भागी हुई आईं और इनको उठाकर ले जाने लगीं, परन्तु गुरू अमरदास जी ने ऐसा करने से उन्हें रोक दिया । प्रेमपूर्वक बालक को उठाकर उन्होंने भविष्यवाणी की कि एक दिन यह बालक महान् व्यक्ति बनकर गुरुओं की वाणियों का भार वहन करने वाला और उनकी सुरक्षा करने वाला होगा । भाई संतोख सिंह ने इस घटना का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है —

" नाहि लिजाओरोहिन दिओ बरिओ ।
मुग कर सो गुर गद्दिओ करिओ ।
अमर को उठाइ तब लीनिओ ।
गरब भार तब सिरी गुर कीनिओ ।
भारी गुर अग में बिद ते है ।
बानी को बोहिथ वह हवे है ।"[1]

कालांतर में उनकी यह भविष्यवाणी सत्य ही सिद्ध हुई ।

गुरू अर्जुनदेव जी की शिक्षा-प्राप्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने कहाँ से और कहाँ तक विद्या-ग्रहण की । प्रतीत होता है कि इन्होंने घर में ही अपने नाना गुरू अमरदास जी, माता भानी जी

---

1. भाई संतोख सिंह, सुरज प्रकाश

तथा पिता गुरु रामदास जी से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की । गुरमुखी लिपि का ज्ञान बाबा बुड्ढा जी से[1] तथा देवनागरी और संस्कृत भाषा का ज्ञान अपने गाँव की पटशाला के पंडित केशो तथा गोपाल से प्राप्त किया ।[2] इनकी रचनाओं को देखकर सहज ही सिद्ध हो जाता है कि इन्हें पंजाबी के अतिरिक्त संस्कृत, अरबी, फारसी, लहँदी, सिंधी ब्रज आदि अनेक भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था ।

गुरु अर्जुनदेव के पृथीचन्द और महादेव दो भाई थे । ये दोनों ही इनसे बड़े थे । महादेव साधु स्वभाव के थे । इसके विपरीत, पृथीचन्द कपटी और छली थे । गुरु रामदास के दरबार में आने वाली धन-राशि उसमें से छिपाकर अपने लिए रखते थे ।[3] गुरु अर्जुनदेव का स्वभाव इन दोनों से भिन्न था ; ये नम्र, सहनशील, सत्य को मानने वाले तथा पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे । गुरु रामदास जी को लाहौर से एक विवाह का निमंत्रण मिला । कार्य की अधिकता के कारण वे स्वयं नहीं जा सकते थे, अतः उन्होंने महादेव तथा पृथीचन्द दोनों को वहाँ जाने के लिए कहा, परन्तु महादेव ने अपने साधु-स्वभाव के कारण तथा पृथीचन्द ने अपनी बुरी नीयत के कारण वहाँ जाने से इन्कार कर दिया । अंत में गुरु अर्जुनदेव जी को जाने की आज्ञा मिली तो इन्होंने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करते हुए कहा कि यह काम तो बहुत आसान है । आपकी आज्ञा पाकर तो मैं जान भी जोखिम में डाल सकता हूँ ।[4] गुरु रामदास जी ने जाते समय यह भी कहा कि जब तक मैं

---

1 स. रणधीर सिंह : पंजाबीदुनियाँ अंक, 1953

2 डा. करतार सिंह दुग्गल : गुरु अर्जुनदेव और संत बाबूदयाल, पृष्ठ 76

3 हमदेर सिंह अशोक : सिक्खी ते सिख इतिहास, पृष्ठ 59

4 इह तौ सुगम काज महि मोहि
बठहु आप जहि आनन्द होहि ।
जिह जावन मैं जीवन सैसे ।
तहि आइस मोहि देहु निसैसे ।
— (भाई संतोख सिंह : गुरुप्रताप सूरजग्रंथ)

वापिस न बुलाऊँ, तब तक वहाँ से आना नहीं ।

गुरु अर्जुनदेव को लाहौर गए जब काफी समय व्यतीत हो गया और पिता की ओर से कोई सूचना नहीं मिली तो ये बहुत ही दुखी हुए । रात-दिन ये यही सोचकर व्यथित होते रहते कि न जाने किस अपराध के कारण पिता (गुरु) ने मुझे भुला दिया है । पिता के वियोग में विह्वल होकर इन्होंने एक पत्र लिखा —

" मेरा मन लोचै गुर दरसन ताईं । बिपत करे वाहिक की निवाईं ।।
तृषा न उतरै संति न आवै बिनु दरसन संत पिआरे जिउ ॥
हउ घोली जिउ घोलि घुमाई गुर दरसन संत पिआरे जिउ ॥ "[1]

परन्तु पृथीचन्द ने यह पत्र पिता के हाथ में न पहुँचने दिया, क्योंकि वह तो गुरु अर्जुनदेव के जाने से बहुत प्रसन्न था, और वह नहीं चाहता था कि अर्जुनदेव शीघ्र वापिस आ जाएं । जब गुरु अर्जुनदेव को पहले पत्र का उत्तर न मिला तो इन्होंने दूसरा पत्र लिखा —

" तेरा मुख सुहावा जिउ सहज धुनि वाणी ।
बिरु होआ देखे सारिंग पाणी ।
धन सु देसु जहाँ तू वसिआ मेरे सजण मीत मुरारे जीउ ।
हउ घोली हउ घोलि घुमाई गुरु सजण मीत मुरारे जीउ ॥ "[2]

पृथीचन्द ने यह पत्र भी अपने पिता गुरु रामदास तक न पहुँचने दिया । जब गुरु अर्जुनदेव को दूसरे पत्र का भी उत्तर न मिला तो अत्यंत दुखी होकर इन्होंने एक और पत्र लिखा —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96

2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96

" इक घड़ी न मिलते ता कलिजुगु होता । हुणि कदि मिलिए प्रिअ तुधु मैगवंता ।
मोहि रैणि न विहावै नींद न आवै विनु देखे गुर दरबारे जीउ ।
इउ धोली जिउ धेलि घुमाई तिसु सचे गुर दरबारे जीउ ॥"[1]

यह पत्र किसी तरह गुरु रामदास तक पहुँचने में सफल हो गया । गुरु रामदास इस पत्र को पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए, और इस पत्र पर लिखी हुई 'संख्या 3' देखकर पृथीचन्द के छल को समझ गए । उन्होंने किसी ढंग से पहले दोनों पत्र पृथीचन्द के घर से मँगवा लिए जिससे पृथीचन्द के छल का रहस्य खुल गया । गुरु रामदास ने अर्जुनदेव को तुरन्त लाहौर से वापिस बुला लिया।[2] वहाँ से वापिस आने पर अपने पिता के आदेश पर उन्होंने निम्नलिखित पउड़ी में पितृ-मिलाप के आनन्द का वर्णन करके 'सबद' को पूरा किया —

" भाग होआ गुर संत मिलाइआ ।
प्रभ अबिनासी घर महि पाइआ ।
सेव करी पल चसा न विछड़ा ।
जन नानक दास तुमारे जीऊ ।
इउ धोलि जिउ धेलि घुमाई,
जन नानक दास तुमारे जीउ ॥"[3]

आधुनिक युग के कुछ आलोचकों का मत है कि "मेरा मन लोचै —" वाला शब्द गुरु अर्जुनदेव द्वारा लिखे गए पिता को पत्र नहीं, बल्कि प्रभु की याद में लिखा गया एक पद है । परन्तु डा. करतार सिंह सुरी ने प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि यह 'शब्द' प्रभु की याद में नहीं, बल्कि पिता गुरु रामदास को लिखे गए पत्र हैं ।[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96
2 (क) भाई संतोख सिंह : श्री गुरुप्रताप सूरज ग्रंथ, पृ. 1718-20
(ख) प्रताप सिंह : गुरमत लैक्चर, पृष्ठ 161-162
3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96
4 गुरु अर्जुनदेव और संत दादूदयाल, पृष्ठ 74

गुरु रामदास ने अपने अन्तिम समय को निकट जानकर तथा तत्कालीन परिस्थितियों को सोचकर यह निर्णय किया कि अर्जुन ही ऐसा पुत्र है जो मेरे बाद प्रतिकूल परिस्थितियों से टक्कर लेकर श्री गुरु नानकदेव द्वारा चलाई गई आध्यात्मिक परम्परा को आगे बढ़ाएगा । अतः भाद्रपद संवत् 1638, तदनुसार 30 अगस्त 1581 ई. को बाबा बुड्ढाजी द्वारा तिलक लगवा कर सहज कवि, व्यावहारिक, दार्शनिक, शक्ति-सम्पन्न नेता तथा राजनीति विशारद पुत्र अर्जुनदेव को गुरुगद्दी का अधिकारी घोषित कर दिया ।[1] सिख-इतिहास में यह पहला अवसर था, जब गुरुगद्दी का अधिकारी को ही गुरु-पुत्र बना था । अब तक गुरु-गद्दी पुत्र को न मिलकर योग्य अधिकारी को ही मिलती रही थी । इसका कारण था कि पूर्व गुरुओं के पुत्रों में उपयुक्त गुणों का अभाव था । गुरु अर्जुनदेव को गुरु-गद्दी की प्राप्ति पुत्र होने के नाते से नहीं, बल्कि योग्य व्यक्ति के नाते से हुई थी । इनमें वे सभी गुण विद्यमान थे जो उस समय के अनुसार एक गुरु में होने आवश्यक थे"।

गुरु अर्जुनदेव के गद्दी पर बैठने से पृथीचन्द को बहुत दुःख हुआ । वह तो आरम्भ से ही इनका विरोधी था, इसलिए उसने कहा कि मैं इस बात की शिकायत बादशाह के पास करूँगा कि मेरा अधिकार छीनकर मेरा छोटा भाई गुरु बन बैठा है पिता गुरु रामदास के समझाने पर भी वह न माना और अपनी बात पर अटल रहा । अतः गुरु रामदास अपने पुत्र गुरु अर्जुनदेव के पास गोइंदवाला चले गए, जहाँ पर एक दिन पश्चात् ही वे भाद्र 3, संवत् 1638 वि. तदनुसार 1581 ई. को परमज्योति में समा गए ।[2]

---

1 "Now appeared on the scene a man who was a born poet, a practical philosopher, a powerful organiser and a great statesman."
— Transformation of Sikhism, PP 65.

2 "इक निस बस के गोइंदवाल । तन तज गए बैकुंठ किरपाल ।"
— गुर प्रताप सूरज : रास 2, अंस 25

पृथीचन्द को जब पिता की मृत्यु का पता चला तो वह भी गोइंदवाल पहुँच गया और वहीं जाकर कहने लगा कि मेरे पिता को अर्जुन ने विष देकर मार दिया है । संगतों ने पृथीचन्द की बात पर विश्वास नहीं किया, बल्कि उससे घृणा करने लगे ।[1] पुरातन मर्यादानुसार भाद्रपद 14, संवत् 1638 वि. को गुरु अर्जुनदेव गुरू-गद्दी पर बैठे तो उनके मामा मोहरी ने उनको एक पगड़ी भेंट की । पृथीचन्द ने यहीं भी अड़चन डाली और कहा कि बड़ा पुत्र होने के नाते इस पगड़ी का अधिकारी मैं हूं । गुरु अर्जुनदेव ने नम्रता से वह पगड़ी अपने बड़े भाई पृथीचन्द को सौंप दी और स्वयं गुरु का चक (अमृतसर) चले गए ।[2] वहीं जाकर इन्होंने सारी सम्पत्ति अपने दोनों भाइयों में बाँट दी तथा स्वयं बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करने लगे ।

गुरु अर्जुनदेव जी की दो शादियाँ हुईं । पहली गाँव मौड़ के क्षत्री की पुत्री रामदेवी से हुई जो कुछ समय पश्चात् ही परलोक सिधार गई । दूसरी संवत् 1646 वि. में गाँव मउ जिला जालन्धर के किशनचन्द की पुत्री गंगादेवी से हुई ।[3] शादी के कई वर्ष पश्चात् तक जब इनके यहाँ कोई संतान

---

1 (क) दबिस्तान मज़ाहब, पृष्ठ 227-3

(ख) मैलकम स्केच, पृष्ठ 30

(ग) गुरु प्रताप सूरज ग्रन्थ, रास 2, ऋुं अंस 25

2 मैकालिफ़ : सिख रिलीजन, वाल्यूम 3, पृष्ठ ।

3 (क) मउ विंड शादी दुती गंगाजी से कीन - पंथ प्रकाश

(ख) गुर खालसा तवारीख : मि. लाल सिंह, पृष्ठ 245

(ग) दि सिख रिलीजन : एम ए मैकालिफ़, पृष्ठ ।

न हुई तो उन्होंने अपने भाई पृथीचन्द के पुत्र मिहरवान को गोद ले लिया। तत्पश्चात् संवत् 1652 वि. में उनको पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। इस अवसर पर समस्त संगत ने तो खुशियाँ मनाईं, परन्तु पृथीचन्द तथा उसकी पत्नी को बहुत दुःख हुआ, क्योंकि उनको तो पूरा विश्वास हो गया था कि अब गुरू अर्जुनदेव की तो कोई सन्तान होगी नहीं, इसलिए हमारा पुत्र मिहरवान ही गुरू-गद्दी पर बैठेगा। अतः अब वे गुरू अर्जुनदेव के पुत्र हरगोविन्द को अपने रास्ते का काँटा समझने लगे तथा इसको दूर करने के उपाय भी ढूँढने लगे। बालक हरगोविन्द को मरवाने के लिए पृथीचन्द ने कई प्रकार के जादू-टोने करवाये, परन्तु बालक हरगोविन्द का बाल भी बाँका न हुआ। उसने एक गाय को बहुत-सा धन देकर भेजा कि वह बालक को विष-भरा दूध पिलाकर मार दे। बालक ने तो दूध नहीं पिया, पर वह गाय ही विष के कारण स्वयं ही काल कवलित हो गई।[1] तत्पश्चात् पृथीचन्द ने गुरू अर्जुनदेव के एक सेवक को लालच देकर कहा कि वह बालक गोविन्द को दही में शक्कर की जगह जहर डाल कर खिला दे। उसने ऐसा ही करना चाहा, परन्तु बालक ने दही खाने से इनकार कर दिया। जबरदस्ती करने पर उसने जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। जब रोने की आवाज़ गुरू अर्जुनदेव ने सुनी तो उसको पास बुलाकर सारी बात मालूम की। वह दही बालक को न खिलाकर पास खड़े कुत्ते को डाल दी। दही को खाते ही वह तड़प-तड़प कर मर गया। सेवक और पृथीचन्द दोनों के षड्यंत्र का रहस्य खुल गया। तब सेवक ने गुरूजी से क्षमा-याचना की, फिर भी वह अधिक देर तक जीवित न रह सका। शीघ्र ही तीव्र पेट-दर्द के कारण परलोक सिधार गया।[2] इस समय गुरू अर्जुनदेव ने निम्नलिखित शब्द का उच्चारण किया —

" तेपु न लागी तिल का मूलि। दुसटु ब्राह्मणु मुआ होइ के सूल।
हरि जन राखे पारब्रह्मि आपि। पापी मुआ गुर परतापि।

---

1 गुरू विलास : पातशाही 6, पृष्ठ 3।

2 वही, पृष्ठ 39

अपना खसमु जनि आपि छिआइआ । इआना पापी ओहु आपि पचाइआ"।
प्रभ मात पिता आपने दास का रखवाला ।
निंदक का माथा ईहां ऊंहां काला ।
जन नानक की परमेसरि सुणी अरदासि ।
मलेछु पापी पचिआ भइआ निरासु ।"[1]

संवत् 1661[2] वि. को एक पंडित ने अकबर के दीवान चन्दूशाह की लड़की का सम्बन्ध गुरु अर्जुनदेव के पुत्र हरगोविन्द से किया, परन्तु जब चन्दू को इस बात का पता चला तो मन की प्रसन्नता को छिपाते हुए अहंकार-भरे शब्दों में कहा — 'तुमने कोचारे की ईंट को नाली में लगा दिया है । यदि तुम कर आए हो तो मुझे स्वीकार है ।' गुरु जी के प्रति कहे गए ये दम्भपूर्ण वचन सिक्खों ने गुरु जी को लिख भेजे और यह प्रार्थना की कि वे चन्दूशाह की पुत्री का सम्बन्ध स्वीकार न करें । गुरु अर्जुनदेव ने अपने शिष्यों की बात मानकर हरगोविन्द की शादी अन्यत्र कर दी ।[3] यह सम्बन्ध टूटने के कारण चंदूशाह गुरु अर्जुनदेव का शत्रु बन गया । इस बात से पृथीचन्द को बहुत प्रसन्नता हुई ।

कुछ समय पश्चात् ही अकबर पंजाब के दौरे पर आया । चन्दूशाह को गुरु अर्जुनदेव से वैर निकालने का सुनहरा अवसर मिल गया । उसने गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध अकबर से बहुत शिकायतें कीं और यह भी कहा कि उसने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की है जिसमें मुहम्मद शाह की निन्दा की गई है । अकबर तो पहले ही गुरु अर्जुनदेव से मिलना चाहता था, क्योंकि वह उनके प्रशंसापूर्ण कार्यों को सुन चुका था, परन्तु चन्दूशाह से उनके विरुद्ध शिकायतें सुनकर उसे बहुत विस्मय हुआ । उसने गुरु अर्जुनदेव को संदेश भेजा कि वे 'आदिग्रन्थ' को लेकर लाहौर आएँ । गुरु अर्जुनदेव स्वयं तो नहीं गए, परन्तु भाई गुरुदास तथा बाबा बुड्ढा जी को आदिग्रन्थ-सहित लाहौर भेज दिया । अकबर ने उसमें से अपनी

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-9, पृष्ठ 1137

2 तवारीख गुरु खालसा : ज्ञानी ज्ञानसिंह, पृष्ठ 113

3 गुरु पुरप्रकाश : भाग 2, पृष्ठ 673-675

इच्छानुसार शब्द सुने तो बहुत प्रसन्न हुआ । अतः उसने श्रद्धापूर्वक 5। मुहरें श्री गुरुग्रन्थसाहिब को भेंट करके तथा सभी सिखों को दुशाले तथा गुरु अर्जुनदेव के लिए पोशाक भेंट करके यह लिख भेजा कि मैं आपके दर्शन करने के लिए अवश्य आऊंगा ।[1] कुछ समय पश्चात् वह दर्शनार्थ गुरु अर्जुनदेव के पास पहुंच गया । स्वयं को उनका सेवक बनाकर कहा कि मेरे लिए शान्ति और प्रसन्नता का आशीर्वाद दीजिए ।[2] अकबर ने वहां से जाते समय लंगर के लिए कुछ धन देने की इच्छा प्रकट की, परन्तु गुरु अर्जुनदेव ने कहा कि लंगर की सहायता करने की अपेक्षा पंजाब निवासियों का लगान माफ करके उनकी सहायता करो । अकबर ने उनकी बात मान ली और उस वर्ष का लगान माफ कर दिया ।

इस घटना के कुछ समय पश्चात् ही अकबर बादशाह का देहान्त हो गया और जहांगीर राजगद्दी पर आसीन हुआ । शाहज़ादा खुसरो विद्रोही बनकर जहांगीर से पराजित हुआ और वापिस जाते हुए शरण लेने के लिए गुरु अर्जुनदेव के पास पहुंचा । उसकी दीन दशा देखकर गुरुजी ने उसे शरण दी । कुछ समय वहीं रहने के पश्चात् वह तरनतारन से चला गया और रास्ते में पकड़ा गया । लाहौर लाकर उसे मार दिया गया । अब चन्दूशाह तथा पृथीचन्द को जहांगीर के कान भरने के लिए अचूक अवसर मिल गया । चन्दू ने गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध एक षड़यन्त्र रचा । उसने सुलही खां को प्रेरित किया कि वे कर उगाहने के बहाने आएं और गुरु अर्जुनदेव को बन्दी बना लें । चन्दू चाहता था कि इस तरह गुरु अर्जुनदेव को बन्दी बनवाकर वह अपनी शत्रुता निकाल लेगा, परन्तु इस षड़यन्त्र की सूचना गुरु अर्जुनदेव को पहले ही मिल गई । उन्होंने अपने परिवार को वहीं से भिजवा दिया । सुलही खां रास्ते में ही ईंटों के भट्टों का निरीक्षण करता हुआ उन्हीं में जलकर मर गया । फिर चन्दू ने सुलही खां के भतीजे सुलमी खां को प्रेरित किया कि वह सेनासहित

---

1 दि सिख रिलीजन – मैकलीफ, भाग 3, पृष्ठ 83

2 वही, पृष्ठ 83

गुरु अर्जुनदेव पर आक्रमण करे, परन्तु वह भी रास्ते में ही किसी शत्रु का सामना करता हुआ मारा गया। जब गुरु अर्जुनदेव को इस बात का पता चला तो उन्होंने निम्नलिखित शब्द का उच्चारण किया[1] —

"सुलही ते नाराइण राजु।
सुलही का दासु कही न पहुचै सुलही होई मुआ नापाक।
काढि कुठार खसमि सिरु कटिआ बिन मडि होइ गइआ है खाकु॥
मंदा चितवत चितवत पचिआ जिनि रचिआ तिनि दीना थाकु।
पुत्र मीत धनु किछु न रही औसु छोडि गइआ सभ माई राकु।
कहु नानक तिसु प्रभ बलिहारी जिनि जन का कीनो पूरा वाकु॥"[2]

इस षड्यंत्र में असफल रहने पर चन्दूशाह तथा पृथीचन्द ने जहांगीर को पंजाब के दौरे पर आने के लिए तैयार किया और कहा कि काश्मीर जाते समय मार्ग में ठहरने के लिए लाहौर ही उचित स्थान रहेगा। जब जहांगीर लाहौर पहुंचा तो चन्दू ने खुसरो वाली घटना सुनाकर उसके कान भर दिए। जहांगीर यह सुनकर भड़क उठा और उसने गुरु अर्जुनदेव को बन्दी बनाने की आज्ञा दी। गुरु अर्जुनदेव को जब लाहौर आने की आज्ञा मिली तो श्री हरगोविन्द को गुरु-गद्दी सौंपकर, भाई गुरुदास और बाबा बुड्ढा जी को उनके कर्तव्य समझाकर, समस्त संगत को दर्शन देकर, वे लाहौर की ओर चल पड़े। अपने साथ केवल जेठा, बिधीआ, पिरणा, पैड़ा और संगारू को ही जाने की आज्ञा दी।[3] लाहौर पहुंचने पर पांचों सिखों सहित इनको बन्दी बना लिया गया। बन्दी बनाकर गुरु अर्जुनदेव को जहांगीर के सम्मुख लाया गया। जहांगीर ने कई प्रकार के प्रश्न पूछने के पश्चात् इन्हें अपराधी ठहराकर दो लाख रुपये जुर्माना किया और गुरुग्रन्थसाहिब में से कुछ पंक्तियां निकालने के लिए कहा।[4] परन्तु गुरु अर्जुनदेव

---

1 गुरुपुर रैकाश : पृष्ठ 708

2 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-18-104, पृष्ठ 825

3 मैकालिफ : दि सिख रिलीजन : भाग 3, पृष्ठ 90

4 वही, पृष्ठ 91

ने दोनों बातें ही अस्वीकार कर दीं और कहा कि मेरे पास जो धन है वह दीन-दुखियों के लिए है ; यदि तुझे धन चाहिए तो मेरी निजी धन ले सकता है । गुरुग्रन्थसाहिब में से पंक्तियाँ निकालने की बात भी मान्य नहीं, क्योंकि मैंने जो कुछ लिखा है वह प्रभु की आज्ञा से लिखा है इसलिए मैं इसमें कमी या वृद्धि कुछ भी नहीं कर सकता ।[1] जहाँगीर यह उत्तर सुनकर आग-बबूला हो उठा । और उनको कत्ल करने की आज्ञा देकर स्वयं आगे चला गया । चन्दूशाह ने अवसर देखकर गुरु अर्जुनदेव को कष्टपूर्ण मृत्यु देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया । कई सिखों ने गुरु जी के जुर्माने का भुगतान करना चाहा, परन्तु गुरु अर्जुनदेव ने मना[2] कर दिया । चन्दूशाह ने जेठ मास की बिलबिलाती गर्मी में गुरु अर्जुनदेव को खौलते हुए पानी में बिठाया, परन्तु गुरु अर्जुनदेव ने उफ तक न की और बड़ी शान्ति से इस शब्द का उच्चारण करते रहे —

" तेरा भाणा मीठा लागै । हरिनाम पदारथ नानक मागै ॥ "

जब चन्दू ने देखा कि इतना कष्ट सहन करके भी गुरु अर्जुनदेव ने उफ तक नहीं की तो उसने आज्ञा दी कि इन्हें गर्म लोहे पर बैठाकर इनके सिर पर गर्म रेत डाली जाए । ऐसा करने से भी गुरु अर्जुनदेव ने उफ तक न की और शान्ति तथा दृढ़ता से 'तेरा भाणा मीठा लागै' का जाप करते रहे ।[3] पाँच दिन तक इस प्रकार की यातनाएँ देने के पश्चात् चन्दू शाह ने आज्ञा दी कि गुरु अर्जुनदेव के

---

1 (क) मेकालिफ : दि सिख रिलीजन : भाग 3, पृष्ठ 9।
(ख) तवारीख गुरु खालसा, पृष्ठ 755

2 तवारीख गुरु खालसा, पृष्ठ 755

3 गुर प्रतिगया कीड तजी, सीस सही प्रभु नेत ।
उन दुसट गुर पर सिटिओ तिआ कर तता रेत ॥
रहे बेदेही होइ दिढ़ ब्रह्म गिआनी नीक ।
जो बरतियो मथ सुखमनी, पाल दिखालिओ ठीक ॥
— ज्ञानी ज्ञानसिंह, पृष्ठ 108

शरीर को गाय की खाल में मढ़ा जाए । गुरु अर्जुनदेव ने इससे पूर्व रावी में स्नान करने की अनुमति मांगी, चन्दू ने इसे स्वीकार कर लिया ।[1] चन्दूशाह ने इस प्रार्थना को शायद इसलिए मान लिया कि छालों से भरे हुए शरीर पर ठंडा पानी लगने से पीड़ा अधिक होगी । गुरु अर्जुनदेव कुछ सिखों का सहारा लेकर रावी नदी पर पहुंचे और सिखों को यह आदेश देकर कि मेरे शरीर को नदी में प्रवाहित कर देना, वही ज्येष्ठ सुदी 4, संवत् 1663 वि. को[2] प्राण त्याग दिए[3] । सिखों ने उनके आदेश का पालन करते हुए उनके पंचभौतिक शरीर को जल में प्रवाहित कर दिया ।

जनश्रुति के आधार पर अभी तक यही माना जाता रहा है कि गुरु अर्जुनदेव के बलिदान का उत्तरदायित्व चन्दूशाह पर ही है । परन्तु इतिहास के पन्ने पलटने से मालुम होता है कि चन्दूशाह एक साधारण सा सरकारी कर्मचारी था । उसका मुगल सल्तनत पर इतना अधिक प्रभाव भी नहीं था, और न ही बादशाह जहांगीर उसकी शिकायत सुनकर गुरु अर्जुनदेव को कत्ल करने की आज्ञा दे सकता था । जहांगीर तो प्रारम्भ से ही इनका विरोधी था । वह चाहता था कि किसी न किसी बहाने से इनको समाप्त करवा दिया जाए और वह बहाना उसको मिल गया,

---

1 (क) गुरुपुर प्रकाश, पृष्ठ 721–724

(ख) उमदातुल तवारीख के लेखक मुंशी मोहन लाल का मत है कि चन्दूशाह ने गुरु अर्जुनदेव को कष्ट देने के लिए ही नदी में डुबाने के लिए आज्ञा दी थी ।

— गुरु अर्जुनदेव और संत दादूदयाल, पृष्ठ 97 से उद्धृत ।

2 तवारीख गुरु खालसा, पृष्ठ 131

3 (क) पंथ-प्रकाश, पृष्ठ 108

4 (ख) गुरुपुरप्रकाश, पृष्ठ 725

खुसरो की सहायता करने का । बादशाह जहाँगीर ने अपनी डायरी में लिखा है —

" गोईंदवाल व्यास नदी के किनारे अर्जुन नाम का एक हिन्दू रहता था । उसने बहुत से सीधे-सादे हिन्दुओं को ही नहीं, अपितु अज्ञानी मुसलमानों को भी अपनी शिक्षा के प्रभाव से श्रद्धालु बनाकर बड़ी मान-प्रतिष्ठा स्थापित की हुई थी । तीन-चार पीढ़ियों से यह दुकान गर्म थी । कुछ समय से मेरे दिन में यह विचार आ रहा था कि इस 'झूठ की दुकान' को बंद कर दूँ या उसे (अर्जुन) इस्लाम में ले आऊँ ।

इन्हीं दिनों खुसरो ने दरिया पार किया और जाहिल तथा दकीक खुसरो ने उसके पास पड़ाव किया । उसके साथ मिलकर कुछ पूर्व आयोजित बातें भी कीं और उसने खुसरो के माथे पर एक तिलक भी लगाया, जिसे हिन्दू लोग एक अच्छा शगुन मानते हैं । मैं इसके षड्यन्त्र को पहले ही भली भाँति जानता था । जब मैंने यह सुना तो आज्ञा दी कि उसे (गुरु अर्जुनदेव) हाज़िर किया जाए । उसका माल असबाब ज़ब्त कर लिया जाए और उसे डरा-धमका कर और कष्ट देकर जान से मार दिया जाए ।"[1]

निर्माण — कार्य

गुरु अर्जुनदेव केवल काव्य-कला में ही प्रवीण नहीं थे, वरन् शिल्प-कला के प्रति भी इनका अगाध प्रेम था । हरिमंदिर साहिब, संतोखसर, तरनतारन, छेरहटा-साहिब का गुरुद्वारा, लाहौर का गुरुद्वारा और बउल, गुरु का बाग और रामसर आदि इनकी शिल्प-कला की प्रियता के प्रमाण हैं ।

हरिमंदिर साहिब — पिता गुरु रामदास जी की आज्ञा का पालन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने सर्वप्रथम अमृतसर सरोवर को पक्का करवाया । इसको पूरा करवाने में भाई बुड्ढा, भाई भगतु और भाई बहिलो ने सबसे अधिक सेवा की ।

---

1. तौज़्कि जहाँगीर, पृष्ठ 35 (नवल किशोर प्रेस लखनऊ)

सरोवर पूरा करवाने के पश्चात् उसके मध्य में हरिमंदिर साहिब की नींव कार्तिक सुदी 5 संवत् 1645 विक्रमी को रखी गई । कहते हैं कि जो पहली ईंट रखी गई थी उसे कारीगर ने टेढ़ी होने के कारण उठाकर सीधी करके रख दिया था । इसपर गुरु अर्जुनदेव ने कहा कि पहले तो इसकी अविचल नींव रखी गई थी । परन्तु तुमने इसे हिला दिया है इसलिए यह एक बार नष्ट होकर फिर दुबारा बनेगा । इनकी भविष्यवाणी सत्य हुई । संवत् 1819 वि. में अहमदशाह अब्दाली ने इस सरोवर को तहस-नहस करा दिया । बाद में सिख-सेनाओं ने विजय प्राप्त करके सरोवर और हरिमंदिर साहिब का पुनः निर्माण किया ।[1] कुछ विद्वानों की मान्यता यह है कि इस मंदिर की आधार-शिला गुरु अर्जुनदेव ने मुसलमान फकीर मीयां मीर के हाथों रखवाई थी ।[2] इनकी धार्मिक उदारता को देखते हुए यह घटना असंभव प्रतीत नहीं होती । इस मंदिर की निर्माण-कला में भी गुरु अर्जुनदेव की उदारता, नम्रता, सर्वबन्धुत्व की भावना आदि मान्यताएँ निहित हैं । यह मंदिर इस्लाम और हिंदू शिल्प-कला का मिलाजुला रूप है, अपने आसपास के मंदिरों से कम ऊँचा होने के कारण नम्रता का, तथा चारों दिशाओं में चार द्वार खुले रहने के कारण यह स्पष्ट करते हैं कि किसी भी धर्म का, किसी भी जाति का मनुष्य यहाँ आकर प्रभु की शरण प्राप्त कर सकता है ।

संतोख सर — अमृतसर में बने इस सरोवर का नाम संतोख सर अर्थात् संतोष का सरोवर क्यों रखा गया, इसके लिए दो बातें प्रसिद्ध हैं । एक तो यह कि एक बार पेशावर-निवासी भाई संतोख ने गुरु अर्जुनदेव के पास आकर सारा धन इनके चरणों में रख दिया और कहा कि इस धन को किसी ऐसे कार्य में लगाएँ जिससे सदा के लिए मेरा नाम रह जाए, क्योंकि मेरी कोई संतान नहीं है ।

---

1 (क) तवारीख गुरु खालसा, पृष्ठ 247

(ख) दि सिखरिलीजन : पृष्ठ 10

2 गुरु अर्जुनदेव की वाणी : पृष्ठ 5

गुरू अर्जुनदेव ने उस धन से इस सरोवर का निर्माण करवाया।[1] दूसरी यह कि जब सरोवर की खुदाई का काम चल रहा था, उस समय तीन गज धरती खोदने के पश्चात् एक गुम्बद-सा निकला। जब उस गुम्बद के द्वार से पत्थर हटाया गया तो उसमें एक योगी अपने श्वास को दशमद्वार पर चढ़ाए बैठा दिखाई दिया। उसको किसी प्रकार होश में लाया गया। योगी ने अपनी शंकाएँ गुरूजी के सम्मुख रखीं और उनका उचित समाधान पाने पर उसके मन को शान्ति हुई और वह अपने शरीर को त्याग कर आवागमन के चक्कर से मुक्ति पा गया। योगी के मन को संतोष मिला, इसलिए इसका नाम संतोखसर रखा दिया गया।[2]

तरनतारन — अमृतसर के निकट तरनतारन के स्थान को सब प्रकार से उचित जानकर गुरू अर्जुनदेव ने वहाँ एक सरोवर बनवाने का विचार किया। इस सरोवर की नींव गुरू अर्जुनदेव ने संवत् 1649 वि. में रखी। कहा जाता है कि इसको पक्का करवाने के लिए जब ईंटें तैयार की गईं तो पृथीचन्द के बहकावे में आकर नूरदीन के पुत्र अमीरदीन ने ईंटें छीन लीं और हाकिम की सराय में लगवा दीं। तब गुरू अर्जुनदेव ने सिक्खों का क्रोध शान्त करते हुए कहा कि घबराओ नहीं, ये ही ईंटें फिर इसी सरोवर में लगेंगी। यह बात सत्य हुई। संवत् 1823 वि. में सरदार बुधसिंह फैजपुरीए तथा सरदार जसासिंह रामगढ़िए ने वे ही ईंटें उखड़वाकर तालाब पक्का करवाया।[3]

करतारपुर

बैसाखी नामा और महिमा प्रकाश दोनों ही करतारपुर के बारे में मौन हैं। भाई संतोख सिंह के अनुसार, करतारपुर जिला जालन्धर में बसाया

---

1 (क) गुरमत लेखर, पृष्ठ 17
(ख) गुरपुर प्रकाश, पृष्ठ 591

2 गुरपुर प्रकाश, पृष्ठ 593

3 तवारीख गुरू खालसा, पृष्ठ 98

गया । पहले इस स्थान पर एक छोटा-सा गाँव था । गुरु अर्जुनदेव ने यहाँ के निवासियों से भूमि लेकर इस नगर का निर्माण करवाया । कान्हसिंह के अनुसार यह भूमि शहजादा सलीम ने सन् 1655 में अपने पिता अकबर से लेकर धर्मशाला के लिए दी थी । इसका क्षेत्रफल 8946 एकड़ 7 कनाल और 15 मरले था ।[1] इस नगर में गुरूजी ने गुरु के महल, गुरुद्वारा मंजी साहिब, दीवान खाना आदि बनवाया था ।[2]

छेरहटा साहिब — अमृतसर के निकट, गुरु अर्जुनदेव द्वारा बनवाया गया यह कुआँ और गुरुद्वारा आज भी सिखों का तीर्थस्थान बना हुआ है ।

लाहौर का गुरुद्वारा और बाउली — लाहौर में भी एक गुरुद्वारा और एक बाउली का निर्माण गुरु अर्जुनदेव ने करवाया ।

गुरु का बाग — गुरु अर्जुनदेव द्वारा लगवाया गया यह बाग उनके प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है ।

रामसर — अमृतसर में संवत् 1659-60 वि. में बनवाए गए सरोवर 'रामसर' के किनारे पर बैठकर ही गुरु अर्जुनदेव ने 'सुखमनी साहिब' की रचना की तथा आदिग्रन्थ को भी इसी स्थान पर लिपिबद्ध किया गया ।

व्यक्तित्व

गुरु अर्जुनदेव के जीवन-परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका व्यक्तित्व विविध गुणों का आकार था । एक महान् एवं युग-पुरुष में जिन गुणों की अपेक्षा होती है, वे सब इनके व्यक्तित्व में निहित थे । इनके जीवन में सहिष्णुता का गुण प्रारंभ से ही मिलता है । इनके भाई पृथीचन्द ने इनके साथ कितने षड्यंत्र किये, कितने क्लेश पहुँचाने के उसने प्रयत्न किये, किन्तु ये उन सभी को शान्ति से सहन करते गये । इनकी यही सहिष्णुता उस समय अपनी चरमावस्था पर पहुँच

---

1 भाई कान्ह सिंह : महान कोष, पृष्ठ 226

2 भाई संतोख सिंह: गुरु प्रताप सूरज, पृष्ठ 1888 से 1891

जाती है जब इन्हें खौलते हुए पानी में डुबोया जाता है और लोहे की तात सलाखों पर बिठाया जाता है । विनम्रता भी इनके व्यक्तित्व का प्रमुख गुण है । इनके दर्शन के लिए जो सिख आये, ये स्वयं उन्हीं के पास पहुँच गये, उनकी सेवा की और स्वयं उनके सामान के चौकीदार बनकर बैठ गये । अहं के त्याग का तथा विनम्रता के ग्रहण का इससे उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है ? बाबा मोहन से पोथियाँ ले लेना भी इनकी विनम्रता का उज्ज्वल प्रमाण है ।

गुरु अर्जुनदेव का युग विविध धार्मिक सम्प्रदायों एवं धार्मिक संकीर्णताओं का युग था । ये इन सम्प्रदायों तथा संकीर्णताओं से उन्मुक्त थे । यही कारण है कि इनकी धार्मिक उदारता का क्षेत्र व्यापक था । अपनी इस उदार भावना को व्यावहारिक रूप देने के लिए इन्होंने आदिग्रन्थ का सम्पादन किया जिसमें गुरुओं की वाणियों के अतिरिक्त विभिन्न सम्प्रदायों के भक्तों तथा भाटों की वाणियाँ भी संकलित कीं । लंगर की परम्परा को जन्म देकर ऊँच-नीच के भेद-भाव को समाप्त किया और इस प्रकार सभी मनुष्यों को, चाहे वे किसी भी वर्ग या सम्प्रदाय के हों, एक ही पंक्ति में बिठा दिया । इनका यह कार्य केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है । धर्म और राजनीति का ऐसा उत्तम समन्वय युग-पुरुषों के व्यक्तित्व में ही देखा जाता है । अपने निर्माण-कार्यों से भी इन्होंने अपनी इसी उदारता का परिचय दिया है ।

गुरु अर्जुनदेव पूर्ण संत थे, किन्तु संसार से विरक्त नहीं थे । लोक-कल्याण इनके लिए सर्वोपरि उद्देश्य था और इसी उद्देश्य की पूर्ति में इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया था । धर्म को व्यावहारिक धरातल पर उतारकर इन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति की । इससे यह स्पष्ट होता है कि इनके अनुसार वही धर्म सजीव एवं ग्राह्य है जो लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करके लोक को ऊपर उठाये । केवल धार्मिक प्रवचनों से कुछ नहीं हो सकता । इसीलिए इन्होंने कीर्तनों को भी ऐसी व्यवस्था दी कि वे व्यावहारिक बनकर लोक-जीवन के अंग बन जायें ।

इसमें सन्देह नहीं कि अपनी इस व्यवस्था में इन्हें पूर्ण सफलता मिली।

इनमें काव्य-प्रतिभा भी विलक्षण थी। एक सफल कवि के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे इनमें सहज रूप से विद्यमान थे। संत-कवि होने के नाते इन्होंने ज्ञान और भक्ति का अपने काव्य में जो सहज समन्वय किया है, वह इनकी सफल एवं महती काव्य-कला का परिचायक है। संत-कवियों की जो काव्य-प्रवृत्तियाँ हैं, वे इसके काव्य में पूर्णरूप से पाई जाती हैं। परन्तु ये उन संतों में से नहीं हैं जो अपनी ही मुक्ति को श्रेयस्कर समझते हैं, वरन् इनकी आध्यात्मिकता लोक-कल्याण की भावना से समन्वित है। यही कारण है कि समाज-सुधारक होने के नाते भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविकता तो यह है कि इनके चिंतन में धर्म और अध्यात्म का जो व्यावहारिक तथा लोक-हितकारी रूप है, वह अन्य संत-कवियों में नहीं है। आपाततः विरोधी परिलक्षित होने वाली ये विशेषताएँ ही इनके व्यक्तित्व की अभूतपूर्व महानता है। श्री प्यारासिंह 'पदम' ने इनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है —

" वह महान् गुरु थे जिन्होंने लोगों को सामाजिक कल्याण तथा पारिमार्थिक पथ पर नया प्रकाश दिया। वह महान् कवि थे, जिनकी वाणी की निर्मल गंगा भारतीय संत-काव्यधारा में एक विशिष्ट रहस्य तथा प्रवाहमय सुश्लिष्ट शैली और सौंदर्य को धारण किये हुए है। कवि होने के अतिरिक्त वह एक विद्वान संपादक भी थे, जिन्होंने आदिगुरुग्रन्थ के रूप में संत-वाणी का अद्वितीय संग्रह करके भारतीय संस्कृति पर एक महान् उपकार किया जैसाकि वेद-मंत्रों का संपादन कर महर्षि व्यास ने किया था। इससे भी बढ़कर बात यह है कि उन्होंने धर्म के लिए अपना बलिदान देकर संसार को यह बता दिया कि एक कलाकार साम्राज्य की तलवार के साथ कैसे लड़ता है? अशिक्षा हिंसा पर कैसे विजय प्राप्त करती है? शान्ति अशान्ति को कैसे पराहत करती है? यह उनकी अद्वितीय कुर्बानी से साफ ज़ाहिर है।"[1]

---

1. गुरु अर्जुनदेव की वाणी, भूमिका।

कृतित्व

गुरु अर्जुनदेव स्वाभाविक कवि-प्रतिभा से सम्पन्न हैं । इनमें सफल कवि के सभी गुण हैं । फलतः इनकी कृतियाँ भावों के सहज आवेगों से परिद्योत हैं । इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की है, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है ।

सुखमणी[1] — गउड़ी राग में रचित यह रचना गुरु अर्जुनदेव की श्रेष्ठतम रचना है । इसमें 24 अष्टपदियाँ हैं । प्रत्येक अष्टपदी से पहले एक दोहड़ा है जिसमें अष्टपदीके भाव का सारांश दिया हुआ है । इसमें वर्णित विषय इस प्रकार हैं — पहली तीन अष्टपदियों में नाम-स्मरण को अन्य सभी धार्मिक कार्यों से उत्तम बताया है, चौथी, पाँचवीं तथा छटी अष्टपदी में बताया गया है कि जब माया में फँसे जीव पर प्रभु की कृपा-दृष्टि हो तभी उसे नाम की प्राप्ति होती है । सातवीं, आठवीं और नौवीं अष्टपदी में वर्णित प्रभु-कृपा से ही मनुष्य सतों की संगति में रहकर 'नाम' जैसी अमूल्य वस्तु प्राप्त कर सकता है । दसवीं तथा ग्यारहवीं अष्टपदी में बताया गया है कि प्रभु सर्वव्यापी है, सभी जीव उसका गुणगान करते हैं । बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं अष्टपदी में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रभु का गुणगान करते हैं उनके लिए और बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। वे सदा नम्र हों, पर-निन्दा से बचें और केवल एक प्रभु पर ही विश्वास रखें कि वही सभी इच्छाओं को पूरा करने वाला है । सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं अष्टपदी में ब्रह्म के स्वरूप पर विचार किया गया है । इनमें बताया गया है कि ब्रह्म सर्वव्यापी होने पर भी माया से निर्लिप्त है, सदा रहने वाला है । गुरुशरण में जाने से ही मनुष्य उसको जान सकता है । उन्नीसवीं तथा बीसवीं अष्टपदी में बताया गया है कि प्रभु का नाम ऐसा अनोखा धन है जो मनुष्य के साथ जाता है । यह धन तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य प्रभु की शरण में जाए । इक्कीस, बाईस तथा तेइसवीं अष्टपदी में कहा गया है कि निर्गुण प्रभु ही इस संसार में

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 262

सगुण रूप धारण कर सर्वत्र व्याप्त है। लेकिन इस बात का ज्ञान मनुष्य को तभी हो सकता है जब उसे गुरुकृपा से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अन्तिम अष्टपदी में प्रभु को सभी गुणों का खज़ाना बताते हुए कहा गया है कि उसका नाम स्मरण करने से ही अनन्त गुणों की प्राप्ति होती है।

सुखमनी को 'सिखों की गीता' भी कहा जाता है। सिख-धर्म की यह मान्यता है कि प्रातःकाल इस का पाठ करने से सारा दिन सुख तथा शान्ति से बीतता है। इसमें मानव-जीवन की समस्याओं को सुलझाकर मनुष्य को शान्ति का उपदेश दिया गया है। एक सिन्धी विद्वान् टी. एल. विरवानी ने इस कृति का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है - 'हम लोग बीसवीं शताब्दी पर बहुत नाज़ करते हैं, परन्तु सच्चाई यह है कि हम गुरु अर्जुनदेव के आगे बिल्कुल हेच हैं। उनकी वाणी सुखमनी आज के जीवन की समस्याओं का एक सफल सुझाव पेश करती है, जोकि कर्मकांड तथा निष्फल शुष्क ज्ञान-चर्चा से रहित है। मुझ से सिंध के कालिजों के लिए धर्म-विद्या का कोर्स पूछा गया है, मेरे विचार में 'सुखमनी' ही एक मात्र सर्वोत्तम रचना है, जो हमें मानव-धर्म तथा शान्ति की शिक्षा देती है।"[1]

बावन अखरी[2] — बावन अखरी में देवनागरी के 52 अक्षरों के आधार पर पउड़ियाँ लिखी गई हैं। इन पउड़ियों से सम्बन्धित श्लोकों में निरंकार सतगुरु और नाम-स्मरण की प्रशंसा की गई है। प्रत्येक पउड़ी के आदि में श्लोक है जो उसी अक्षर से आरंभ होता है जिस अक्षर-सम्बन्धी पउड़ी लिखी जानी हो —

"गंगा गोविन्द गुण रवहु, ससि ससि जपुनीत,
कहा बिलासा देह का, बिसम न करि हो मीत।"[3]

बावन अखरी एक लम्बी कविता होने के कारण गुरमत दर्शन को अपने में समेट लेती है। व्यास शैली, सरलता, रागात्मकता और स्पष्टता इस रचना के विशेष गुण हैं।

---

1 गुरु अर्जुनदेव की वाणी, पृष्ठ 19 से उद्धृत
2 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 250
3 वही, महला 5, पृष्ठ 254

फुनहे[1] — 23 पउड़ियों की यह रचना गुरु अर्जुनदेव ने अपनी साली हरिदो को सम्बोधित करते हुए की । इसमें हरिदो नाम पुनः पुनः आने पर ही इस बाणी का नाम फुनहे है । इस रचना में प्रभु के नाम की प्रशंसा की गई है । परन्तु डोहिल छंद के सुन्दर प्रयोग ने इस रचना को अनोखा बना दिया है —

"साखी काजल हार तंबोल सभै किछु साजिआ ।
सोलह किए सींगार कि अंजनु पाजिआ ।
जो धरि आवै कंतु त सभुकिछु थाईं पवै ।
हरि हां कते वासु ; सींगार सभु बिरथा जावै ।"[2]

बिरहड़े — वियोग के गीत को पंजाबी में वरहा या बिरहड़ा कहते हैं ।[3] गुरु अर्जुनदेव ने आसा राग में रचित इन 3 'छन्दों' में प्रभु मिलन की तीव्र इच्छा प्रकट करते हुए कहा है —

"इह तन वेची संत पहि बिआरे प्रीतम देई मिलाइ ।"[4]

क्योंकि जीव जानता है कि हरि-रस का स्वाद ही अनोखा होता है और जो एक बार इस रस का आनन्द प्राप्त कर लेता है, उसे किसी अन्य रस की तृष्णा नहीं रहती —

"हरि रसु जिनी चाखिआ बिआरे तृपत रहे अघाई ।"[5]

बारह - माह[6] — साहित्यिक परम्परा का पालन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने भी माझ राग में बारहमासा की रचना की है । इसमें 14 पद हैं, प्रथम तथा अन्तिम

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 1361

2 वही, महला 5, पृष्ठ 1361

3 वही, महला 5, पृष्ठ 431

4, 5 वही, महला 5, पृष्ठ 431

6 वही, महला 5, पृष्ठ 133

पद में किती है, शेष पदों में बारह महीनों का महत्व बताया गया है। मौसम परिवर्तन से मनुष्य की मनोदशा में आने वाले परिवर्तन का वर्णन, गुरु अर्जुनदेव की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का द्योतक है। इसमें जीवन में घटने वाली घटनाओं को घरेलु और मौलिक उपमाएँ देकर चित्रित किया गया है। आज भी सिख-धर्म में संक्रांत के दिन इस वाणी का पाठ बड़े आदर के साथ किया जाता है।

दिन रैणि[1] — राग माझ के इस पद में जीवन के दोनों रूपों दिन (सुख) और रात (दुख) में भगवान् को न भुलाने का उपदेश है —

" दिनु रैणि जि प्रभ कउ सेवदे तिन के सद बलिहार "[2]

थिती[3] — गउड़ी राग में रचित 17 श्लोक और 17 पउड़ियों की इस रचना में बताया गया है कि सभी तिथियाँ भगवान् का नाम लेने के लिए समान महत्व रखती हैं। इसमें नम्रता, स्पष्टता, और सादगी के साथ अनुप्रास के प्रयोग ने इसकी सुन्दरता को बढ़ा दिया है। छोटे-छोटे छंदों में तुक एवं राग का उपयुक्त संधान इसे और भी आकर्षक बनाए हुए है।

पहिरे[4] — गुरु अर्जुनदेव ने एक 'शब्द' में यह बताया है कि किस पहर में कौनसा कार्य मनुष्य के जीवन को सफल बनाकर भगवान् से मिलने में सहायक होता है।

काफीयाँ[5] — इस शीर्षक के अन्तर्गत गुरु अर्जुनदेव ने सूही राग में दो शब्दों की रचना की है जिसमें सदा भगवान् का नाम स्मरण करने का उपदेश दिया है।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 136

2 वही, महला 5, पृष्ठ 136

3 वही, महला 5, पृष्ठ 296

4 वही, महला 5, पृष्ठ 77

5 वही, महला 5, पृष्ठ 706

गुणवंती[1] – गुरू नानकदेव के 'सुखजी' से प्रेरित होकर गुरू अर्जुनदेव ने 'गुणवंती' नाम से एक पद लिखा, जिसका भाव है कि गुणवंती वही स्त्री है जो भगवान् को प्राप्त करके उसी में लिप्त रहकर आनन्द का उपभोग करती है ।

रूति[2] — 16 श्लोकों तथा आठ छंदों की यह रचना राग रामकली में रचित है । इसमें जीवन को छः ऋतुओं के समान मानकर बताया गया है कि भगवान से मिलने की इच्छा रखने वालों को जीवन के किसी भी भाग को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए ।

अंजुलियाँ[3] — राग माझ में रचित इन दो पदों एवं दो अष्टपदियों में निर्धन और धनवान दोनों के लिए प्रभु से नाम-रूपी अमृत की कामना करते हुए कहा गया है कि इस संसार के सभी मनुष्य उन ~~पक्षियों~~ के जीव जंतुओं के समान हैं जो एक एक वृक्ष के नीचे एकत्र होकर अलग-अलग आवाजें बोलते हैं और सूर्य छिपने पर सभी वहाँ से चले जाते हैं अर्थात् इस संसार में सभी मनुष्य भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं परन्तु समय आने पर सभी यहाँ से कूच कर जाते हैं —

"बिरखे हेठ सभि जंत इकठे । इक तते इक बोलन मिठे ।
आवत उदोत अथवा उठि चले जिऊ जिऊ अउध विहाणिओ ॥"[4]

वार सोलहे[5]

शब्दार्थ के अनुसार सोलह पदों वाले 'शबद' को ही सोलहे कहा है । परन्तु सोलहे 15, 17 और 21 पदों के भी होते हैं ।[6] आदि ग्रन्थ में

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 768
2 वही, महला 5, पृष्ठ 927
3 वही, महला 5, पृष्ठ 1019
4 वही, महला 5, पृष्ठ 1019
5 वही, महला 5, पृष्ठ 1071
6 शब्दारथ । पृष्ठ 1020

गुरु अर्जुनदेव द्वारा रचित सोलहा 9 पदों का भी है । इनमें गुरु अर्जुनदेव ने बताया है कि प्रभु आनन्द स्वरूप है और उससे आनन्द की प्राप्ति होती है । सारे ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले प्रभु का स्मरण करने वाला मनुष्य ही सच्चा होता है । ऐसे प्रभु को प्राप्त करने का सर्वोत्तम माध्यम गुरु है । गुरु कृपा से ही प्रभु का सामीप्य प्राप्त होता है और आनन्द की प्राप्ति होती है ।

गउड़ी की वार[1] — इस वार में 21 पउड़ियाँ हैं । प्रत्येक पउड़ी के साथ दो-दो श्लोक हैं । प्रत्येक पउड़ी में पाँच-पाँच तुकें हैं और पउड़ी 1, 9, 16 और 20 को छोड़कर शेष सभी पउड़ियों के साथ दोतुके श्लोक हैं । इसमें बताया गया है कि यद्यपि प्रभु सर्वव्यापक है, तथापि उसी मनुष्य का जीवन पवित्र हो सकता है जो साधु संगति का आश्रय लेता है । और गुरुद्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर नामस्मरण करता है । नाम के महत्व से ही उसके मन से माया की तृष्णा बुराई आदि विकार दूर हो जाते हैं । नाम-स्मरण से मनुष्य की चरण धूलि करोड़ों तीर्थों से भी पवित्र हो जाती है । जो मनुष्य माया के जाल में फँस जाते हैं, वे अपना परलोक भी बिगाड़ लेते हैं ।

गुजरी की वार[2] — इस वार में कुल 21 पउड़ियाँ हैं । प्रत्येक पउड़ी के साथ दो-दो श्लोक हैं । श्लोकों की संख्या 42 है । केवल 20वीं पउड़ी को छोड़कर शेष सभी पउड़ियों में अठारह-अठारह तुकें हैं । पहली, दूसरी पउड़ी का पहला श्लोक तथा तीसवीं पउड़ी के अतिरिक्त शेष सभी पउड़ियों के साथ आए श्लोक दो-दो तुकोंके हैं । इसमें बताया गया है कि यह बहुरंगी संसार प्रभु ने स्वयं बनाया है और इसमें मानवमन को माया जैसे अनेक विकारों को भी स्थान दिया है । मनुष्य चतुर होता हुआ भी इन विकारों से छुटकारा नहीं पा सकता । केवल वही मनुष्य इन विकारों से छुट सकता है जिसको प्रभु कृपा से गुरु की शरण प्राप्त होती है । वही प्रभु का नाम स्मरण करता है, क्योंकि नाम स्मरण से ही वह इन विकारों से छुटकारा पाकर अपना जीवन सुखमय बना सकता है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 318

2 वही, महला 5, पृष्ठ 517

बेतसरी की वार[1] — गुरु अर्जुनदेव की यह रचना एक सिख योद्धा त्रिलोका के प्रति लिखी गई है । इसमें उपदेश दिया गया है कि सांसारिक मोहमाया को त्यागकर वैराग्य का भाव उत्पन्न करके प्रभु की प्रीति करनी चाहिए । इसमें 40 श्लोक और 20 पउड़ियाँ हैं । एक ही विचार को प्रथम श्लोक में पूर्वी बोली में लिखा है और दूसरे श्लोक में उसी विचार को लहंदी भाषा में वर्णित किया है। तथा पउड़ी में उसी विचार की व्याख्या पंजाबी भाषा में की है । भाषा विचार और शैली के कारण इस कृति का साहित्य में ऊँचा स्थान है ।

रामकली की वार[2] — इस वार में 22 पउड़ियाँ हैं । प्रत्येक पउड़ी में आठ-आठ तुकें हैं । पउड़ियों के साथ आए श्लोक कुछ तो बहुत बड़े हैं और कुछ दोतुके ही हैं । इसमें बताया गया है कि जगत का रचयिता प्रभु सर्वव्यापक है । जिस मनुष्य पर प्रभु कृपा करता है, वही गुरु की शरण प्राप्त करके प्रभु का नाम स्मरण करता है । प्रभु-कृपा से जिस मनुष्य को नाम की प्राप्ति होती है उस की तृष्णाग्नि समाप्त हो जाती है और वह माया के जाल से मुक्त हो जाता है । उसे यह ज्ञान भी हो जाता है कि प्रभु सर्वव्यापक होते हुए भी निर्लिप्त है ।

मारू की वार[3] — इसमें 23 पउड़ियाँ हैं । प्रत्येक पउड़ी में आठ-आठ तुकें हैं और प्रत्येक पउड़ी के साथ तीन-तीन श्लोक हैं । इसमें पउड़ियों और श्लोकों की भाषा में भी अन्तर है । इस वार का मुख्य भाव इस प्रकार है - इस सृष्टि का रचयिता प्रभु सर्वव्यापक है, परन्तु जीव माया में ग्रस्त होने के कारण उसको देख नहीं पाता । संसार के सभी धार्मिक आडम्बर और तीर्थ-स्नान कोई भी मनुष्य को माया से मुक्त नहीं कर सकते । जिस मनुष्य पर प्रभु की कृपा होती है, वही मनुष्य गुरु की शरण ग्रहण करता है और प्रभु का नाम स्मरण करता हुआ अपना जन्म सफल करता है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 706

2 वही, महला 5, पृष्ठ 957

3 वही, महला 5, पृष्ठ 1085

वसंत की वार[1] — इस वार में केवल तीन पउड़ियाँ ही प्राप्त हैं । इसमें वसंत ऋतु के अलग-अलग रूपों द्वारा नाम स्मरण की महत्ता बताई गई है । गुरु की शरण में रहकर जो मनुष्य प्रभु का नाम स्मरण करते हैं वे कामादिक पाँचों विकारों से मुक्त हो जाते हैं तथा आवागमन के चक्कर से भी मुक्ति पा लेते हैं । गुरु कृपा से ही प्रभु का सामीप्य प्राप्त हो सकता है ।

आदिग्रन्थ — उपर्युक्त कृतियों में गुरु अर्जुनदेव की कुछ विशिष्ट वाणियों का ही संकलन है । शेष वाणियाँ, उपर्युक्त कृतियों की वाणियों सहित, आदिग्रन्थ में संग्रहीत हैं । इस ग्रन्थ में संग्रहीत इनके पदों की संख्या 2218 है । निस्सन्देह, यह विशाल संख्या, इनकी विलक्षण काव्य-प्रतिभा की द्योतिका है । इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पाँचवे अध्याय में दिया गया है ।

जीवन

युग-पुरुष गुरु अर्जुनदेव का जन्म 19 वैशाख विक्रमी संवत् 1620 तदनुसार 15 अप्रैल, 1563 ई. को गोइंदवाल में हुआ । इनके पिता गुरु रामदास और माता बीबी भानी थीं । 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बचपन से ही इनके महान् गुणों का संकेत पाकर गुरु अमरदास ने इनकी महानता की भविष्यवाणी की थी, जो कालांतर में सत्य सिद्ध हुई । ये पंजाबी के अतिरिक्त संस्कृत, अरबी, फारसी, मराठी, सिंधी, ब्रज आदि भाषाओं के भी विद्वान थे । इन्हें जीवन-भर संघर्षों और षड्यंत्रों का सामना करना पड़ा और अंत में चन्दूशाह के षड्यंत्र में भीषण यातनाओं को सहते-सहते ज्येष्ठ सुदी 4, संवत् 1663 वि. को परम-ज्योति में मिल गये ।

काव्य-कला के अतिरिक्त, शिल्प-कला से भी इनका अनन्य प्रेम था । हरिमन्दिर साहिब, संतोखसर, तरनतारन, छेरहटा साहिब का गुरुद्वारा, लाहौर का गुरुद्वारा और बाउली, गुरु का बाग और रामसर का निर्माण इनकी शिल्प-कला की प्रियता के उदाहरण हैं ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 1193

इनका व्यक्तित्व विविध एवं विलक्षण गुणों से ओतप्रोत था । सहिष्णुता, विनम्रता, धार्मिक उदारता, लोक-कल्याण की भावना आदि इनके व्यक्तित्व के प्रमुख गुण हैं । संत, कवि और समाज-नेता, ये तीन इनके व्यक्तित्व के प्रमुख रूप हैं ।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं — सुखमनी, बावन अखरी, फुनहे, चिरहडे, बारह-माह, दिन-रैणि, थिती, पहिरे, वणजारा, गुणवंती, सत, अंजुलियाँ, मारू सोलहे, गउड़ी की वार, गूजरी की वार, जैतसरी की वार, राम कली की वार, मारू की वार और बसंत की वार । आदिग्रन्थ इनकी सम्पादित कृति है जो सिख धर्म का नियामक ग्रन्थ है ।

xxxxx
xxx
x

*

द्वितीय अध्याय

दार्शनिक विचारधारा

*

दार्शनिक विचारधारा

अनादिकाल से ही संसार में सुख-दुःख के भाव विद्यमान हैं, और तभी से मनुष्य सुख की उपलब्धि तथा दुःख से निवृत्ति का प्रयत्न करता आया है । दर्शनों का उद्भव इसी प्रयत्न की परिणति है । सत्यासत्य का विवेक, जो दुःख-निवृत्ति का मूल कारण है, दर्शनों का प्रतिपाद्य रहा है, जिसके अन्तर्गत परमात्मा का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप, माया का स्वरूप, सृष्टि-रचना आदि विषयों का गम्भीर विवेचन हुआ है । गुरु अर्जुनदेव की दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण भी इन्हीं के आधार पर उपयुक्त होगा ।

परमात्मा का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में परमात्मा के स्वरूप का विवेचन इतना विरोधी और इतना बहुमुखी हुआ है, कि किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव ही है इसीलिए दर्शनकारों ने इसके अनेक रूपों और गुणों का वर्णन करके भी 'नेति नेति' कहकर अपने निष्कर्षों के 'इदमित्थं' पर असमर्थता ही व्यक्त की है । परमात्मा के जितने रूपों का तथा गुणों का वर्णन हुआ है, वे गणनातीत हैं; अतः दार्शनिक या दार्शनिक कवि ने इसके कतिपय ही रूप एवं गुणों का उल्लेख करके संतोष कर लिया है ।

परमात्मा के स्वरूप-निरूपण की परम्परा वेदों से ही प्रचलित हो जाती है । ऋग्वेद में परमात्मा या पुरुष के विविध रूपों एवं गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है — "पुरुष के सहस्र मस्तक हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पैर हैं । वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दस अंगुल परे भी है । जो कुछ है और जो कुछ होगा – सो सब वही पुरुष है । वह अमरत्व का स्वामी है । जितने अन्न से पलने वाले जीव हैं सब में वही है । उसकी महिमा से बड़ा वह पुरुष था । सकल विश्व उसका एक चतुर्थांश-मात्र है । उसके तीन पाद बाहर अन्तरिक्ष में हैं । उसके एक पाद से सर्वभूत व्याप्त है और तीन पाद अमृत है जो द्युलोक में है । वही चारों ओर बराबर विश्व में व्याप्त है । "[1]

भारतीय परवर्ती दार्शनिक ग्रंथों में भी यही परम्परा परिलक्षित होती है । उपनिषदों में ब्रह्म की पूर्ण प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए बताया गया है, कि ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, गति, पालन और स्थिति तथा इस सम्पूर्ण जगत् के लय का कारण है ।[2] वही पूर्ण है, वही सब-कुछ है, और वही सब प्रकार से पूर्ण है ।[3] यही एक ब्रह्म है जो अपूर्व – अद्वितीय

---

1 सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ 1 ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ 2 ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ 3 ॥
— ऋग्वेद, 1-90

2 यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यतो जातानि जीवन्ति ।
यत प्रयन्त्यभि विशन्तितद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥
— तैत्तिरीयोपनिषद् 3-1

3 ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
— ईशा० शान्ति पाठ ।

अनन्तर और अबाह्य है ।[1] ब्रह्म एक ही है, दूसरा नहीं है ।[2] वह अच्युत, अनणु, अह्रस्व और अदर्श है ।[3] यह निखिल जगत् ब्रह्म ही है ।[4] ब्रह्म सब में व्याप्त है और विविध रूपों में प्रदर्शित हो रहा है ।[5] सकल विश्व ब्रह्म ही है।[6] वह माया से विश्व का सृजन करता है ।[7] उपनिषदों के इन्हीं सिद्धान्तों का परवर्ती भारतीय दार्शनिकों ने विश्लेषण करके अपने-अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया । इन ब्रह्म गुणों की मीमांसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा ऋषियों और उपनिषदकारों को भगवान के व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् साकार और निराकार दोनों ही रूप अभीष्ट थे । गीताकार ने इन रूपों को और अधिक स्पष्ट करते हुए परमात्मा के व्यक्त, अव्यक्त तथा अव्यक्ताव्यक्त[8] आदि सब रूपों का वर्णन किया है । गीताकार का कथन है कि ब्रह्म में सभी इन्द्रियों का आभास है,

---

1 तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।
— बृहदारण्यकोपनिषद्, 2-5-19

2 ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम् ॥
— छान्दोग्योपनिषद्, 6-2-1

3 अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ।
— बृहदारण्यकोपनिषद्, 3-8-8

4 एकमेव सत्नेह नानास्ति किंचन ।
— बृहदारण्यकोपनिषद्, 4-4-19

5 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।
— कठोपनिषद्, 2-2-9

6 सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।
— छान्दोग्योपनिषद्, 3-14-1

7 मायी सृजते विश्वमेतत् ।
— श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 4-9

8 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
— गीता, अध्याय 13-14

पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है । वह सर्वातीत है, सबका पालन कर्ता है, वह निर्गुण है, वह परगुणों का उपभोग करता है ।[1] वह सब भूतों के बाहर भी है और भीतर भी वह चराचर है, सूक्ष्म है अविज्ञेय है तथा दूर होकर भी निकट है । वह अविभक्त और विभक्त भी है सब का पोषण कर्ता तथा संहारक भी है ।[2] अनादि और अव्यक्त भी है । शरीर में रहते हुए भी वह उदासीन रहता है तथा किसी भी कार्य के बंधन में वह नहीं बँधता ।[3] गीता में ऋग्वेद की भाँति परमात्मा के विराटरूप का भी वर्णन मिलता है — "अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख, और अनेक नेत्रधारी अनंत रूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ । परन्तु हे विश्वरूप ! तुम्हारा अंत, मध्य और आदि कुछ भी दिखाई नहीं देता ।[4]

हिन्दी के दार्शनिक कवियों और गुरुओं पर इन्हीं विवेचनाओं का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इन्होंने भी परमात्मा के अनेक और विरोधाभासी रूपों का वर्णन किया है । गुरु अर्जुनदेव की दार्शनिक विचारधारा में भी ऐसे ही वर्णन सहज ही मिल जाते हैं । इन्होंने परमात्मा के विविध रूपों का जो वर्णन किया है :

---

1 बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥
— गीता, अध्याय 13–15

2 अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
— गीता, अध्याय 13–16

3 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥
— गीता, अध्याय 13–31

4 अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥
— गीता अध्याय 11–16

एकमेव ब्रह्म — केवल ब्रह्म ही एक परम सत्य सत्ता है । शेष सत्ताएँ असत्य हैं । यह भावना आदिकाल से ही भारतीय दर्शनों में पाई जाती है । इसी लिए ब्रह्म को "एकमेव द्वितीय नास्ति" कहा गया है । आदि-संत कवि कबीरदास ने भी एकमेव ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा है, जिसने उस एक को जान लिया है उसने सबको जान लिया ।[1] एक से सब हो जाते हैं, पर सबसे एक नहीं बनाया जा सकता ।[2] केवल एक राम की आशा ही उचित है, अन्य आशा तो व्यर्थ है ।[3] जिसका हृदय एक से बँध जाता है, वह निश्चिंत हो जाता है ।[4] हमने तो एक ही को समझा है जो दो कहते हैं उनको तथा जिसने उस एक को नहीं पहिचाना, उन्हें नरक मिलता है ।[5] गुरु नानकदेव ने भी उस एक को अगम और अगोचर बताया है ।[6]

---

1 जौ जौ एक जानियाँ, तौ जान्या सब जान ॥
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 19

2 एक ते सब होत है । सब ते एक न होइ ॥
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 19

3 आसा एक जु राम की दूजी आस निरास ।
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 19

4 जिन दिल बँधी एक सूं ते सुख सोवैं न चीतं
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 50

5 हम तौ एक एक करि जाना
दोइ कहै तिन ही कौ दोजग जिन नाहिंन पहिचाना
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 105

6 अगम अगोचरु अनामु अजोनी गुरमति एकै धिआइआ ।
— श्री गुरुग्रंथसाहिब, सारंग महला १ ।

गुरु नानकदेव तथा शेष सभी गुरुओं की वाणी में प्रयुक्त एक ओंकार शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है । उपनिषदों में भी 'ओंकार' शब्द का प्रयोग मिलता है ।[1] मुंडकोपनिषद् में 'ओम्' शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है —

अ + उ + म

ये तीनों आत्मा मन की तीन अवस्थाओं को प्रकट करते हैं —

अ = अकार (जागृत अवस्था)
उ = उकार (स्वप्नावस्था)
म = मकार (सुषुप्ति अवस्था)

और चौथी अवस्था तुरीय अवस्था है, जहाँ पहुँच कर ये तीनों अवस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं और जीव तथा ब्रह्म में भी भेद नहीं रहता । एक ओंकार शब्द में दोनों (निर्गुण तथा सगुण) रूप मिलेत हुए हैं । हिन्दू-दर्शन की तीनों शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश (उत्पादक, पालक और संहारक के प्रतीक) इसी एक ओंकार से उत्पन्न होती है ।[2]

गुरु अर्जुनदेव ने भी स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म का एकत्व स्वीकार करते हुए कहा है —

" पार ब्रह्म प्रभु एक है दूजा नाही कोइ "[3]

"इकस विणु होरु दूजा नाही बाबा इह मति सारी झीउ ।"[4]

अर्थात् उस प्रभु के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है ।

---

1 मुंडकोपनिषद, श्लोक 1, प्रश्नोपनिषद् श्लोक, 2, प्रश्न 5

2 डा. सुरेन्द्र सिंह कोहली : 'सिख धर्म', पृष्ठ 20

3 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-9, पृष्ठ 45

4 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-39, पृष्ठ 108

एक उसी ब्रह्म को सज्जन, सच्चा मित्र तथा भाई मानते हुए कहा है कि सारा संसार उसी के प्रताप से कार्यरत है । यदि उसी एक से मन लगाया जाए तो मन निश्चल हो जाता है —

" इको दिसै सजणु इको भाई मीतु ॥
इको दी सामग्री इकसे दी है रीति ॥
इक्क सिउ मनु मानिआ ता कीआ निहचलु चीतु ॥ "[1]

गुरु अर्जुनदेव ने मनुष्य को उसी एक प्रभु का नाम-स्मरण करने के लिए कहा है —

" राम नाम अति सुखकार । "[2]

इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुझे तो उस सच्चे अलख और अभेद के अतिरिक्त और कोई भी नहीं दिखाई देता —

" अवरु न कोऊ दूजा सूझै साचे अलख अभेवा । "[3]

xx xx xx xx

" एकु साहिबु सिर छत्रु, दूजा नाही कोइ ॥ "[4]

xx xx xx xx

" तुध नो छोडि जाईऐ प्रभु कैं दरि, आन न बीजा तेरीं समसर ॥ "[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-5, पृष्ठ 44

2 वही, महला 5, पद 4-28, पृष्ठ 185

3 वही, महला 5, पद 4-10-49, पृष्ठ 383

4 वही, महला 5, पद 4-7-909, पृष्ठ 398

5 वही, महला 5, पद 4-5, पृष्ठ 371

इन्होंने उसी एक प्रभु को पिता तथा सभी मनुष्यों को उसके बालक माना है —

" एकु पिता एकस के हम बारिक ।"[1]

×× ×× ××

" तू साझा साहिब बाप हमारा ।"[2]

गुरु अर्जुनदेव ने ब्रह्म के एकत्व को मानते हुए बहुदेववाद का प्रबल खण्डन किया है । जो मनुष्य प्रभु को त्यागकर अन्य सांसारिक लोभ के लिए देवी-देवताओं की पूजा करते हैं उनकी अवस्था उस व्यक्ति के समान है जो स्वामी को छोड़कर उसके नौकरों को सलाम करता है —

" प्रभु तिआग लागत अन लोभा, दास सलाम करत कत सोभा ।"[3]

उस सच्चे ब्रह्म को छोड़कर अन्य देवी-देवताओं की पूजा करने वाले मनुष्य का जीवन व्यर्थ जाता है —

" सेवक सचे साह के सोई परवाण ।
दूजा सेवन नानका, से पच पच मुए अजाण ।"[4]

गुरु अर्जुनदेव ने तो यहांतक कह दिया है कि उस कृपानिधि को छोड़कर अन्य देवी-देवताओं की पूजा करना आत्महत्या करने के बराबर है —

" किरपा निधि छोड़ आनकऊ पूजहि आतमघाती हरते ।
हरि बिसरत ते दुख दुख मरते अनिक बार भ्रमहि बहु जोनी टेक -
न काहू सरते ॥"[5]

अतः स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव एकेश्वरवाद को मानने वाले थे । परंतु इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के समान ये दूत या पैगम्बर के अस्तित्व के स्वीकार नहीं करते । डा. सुरेन्द्र सिंह कोहली भी इसी बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं —

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-1-12, पृष्ठ 611
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 97
3 वही, महला 5, पद 2-7-165, पृष्ठ 216
4 वही, महला 5, पृष्ठ 319
5 वही, महला 5, पद 3-4, पृष्ठ 1267

" The prophet-hood of God has been rejected by the Saints"[1]

सत्य रूप ब्रह्म — ब्रह्म की केवल वह सत्ता है जो सभी अवस्थाओं में एकरस रहती है । इसीलिए ब्रह्म को ही सत्य माना गया है —

" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।"[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को अमृत सत्य से आच्छादित[3] और छान्दोग्योपनिषद् में एक मात्र अद्वितीय सत्य बताया गया है ।[4]

शंकराचार्य ने लिखा है — 'ब्रह्म सभी अवस्थाओं में अपने एकरस में अवस्थित रहने वाला पदार्थ है, परमार्थ है, परम सत्य है ।[5]

गुरु अर्जुन देव ने भी सत्यरूप ब्रह्म का वर्णन करते हुए बताया है कि वही ब्रह्म एकमात्र सत्य और सत्याश्रय है । यही सत्य रूप ब्रह्म सब में समाया हुआ है । यही असल और सत्यपुरुष है और यही करोड़ों पापों का नाश करने वाला है —

" सति माहि ले सति समाइआ ।"[6]

xx xx xx

" सत पुरख जाको है नाउ
मिटहि कोटि अघ निमख जसु गाउ ।"[7]

---

1 A Critical Study of Adi Granth, P. 336.

2 तैत्तिरीयोपनिषद्, 2-1-2

3 तदेतदमृतं सत्येनाच्छन्नं
— अध्याय 1, ब्राह्मण 6, मंत्र 3

4 सदेव सोम्येदमग्रु आसीदेकमेवाद्वितीयम्
— अध्याय 6, खण्ड 2, मंत्र 1

5 एकस्मिन हि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः ।
— ब्रह्मसूत्र, शंकर - भाष्य 2-1-11

6 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-14-25, पृष्ठ 890

7 वही, महला 5, पद 4-1-3, पृष्ठ 862

यह ब्रह्म सत्य-रूप, अजर-अमर और सर्वव्यापी भी है —

" प्रीति लगी तिसु सच सिउ मरै न आवै जाइ ।
ना वेछोड़िया विछुड़ै सब महि रहिआ समाइ ।"[1]

"अवरु न कोऊ दूजा सूझै साचे अलख अभेवा"[2] कहते हुए गुरु अर्जुनदेव ने स्पष्ट रूप में कह दिया है, कि उस सत्यरूप ब्रह्म के सिवा मुझे कोई भी दिखाई नहीं देता ।

ज्योति-स्वरूप ब्रह्म — ब्रह्म को ज्योति स्वरूप भी माना गया है क्योंकि यही समस्त सृष्टि के प्रकाश का कारण है, सभी वस्तुएँ इसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं । ब्रह्म के इसी रूप का वर्णन कठोपनिषद्कार ने इन शब्दों में किया है — 'वहाँ न तो सूर्य ही प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा ही, और न तारागण ही चमकते हैं । वहाँ बिजली की छटाएँ भी नहीं चमकती । यह अलौकिक अग्नि उसी प्रकाश से प्रकाशित होती है और उसी के प्रकाश से सभी वस्तुएँ प्रकाश ग्रहण करती हैं । उसी के प्रकाश से यह संपूर्ण जगत प्रकाशित हो रहा है ।'[3] कबीर ने ज्योति स्वरूप ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म का तेज इतना प्रकाशमान है कि उसका वर्णन करना सामर्थ्य से बाहर है । वह शब्दातीत है और केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है ।[4]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-13, पृष्ठ 46

2 वही, महला 5, पद 4-10-49, पृष्ठ 383

3 न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकंनेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
— कठोपनिषद् 2-2-15

4 पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥
— कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 12

गुरु अर्जुनदेव ने भी ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का वर्णन किया है । ये कहते हैं कि सांसारिक मोह-माया त्याग कर उस ज्योति-स्वरूप ब्रह्म से प्रेम करना चाहिए —

" तजि मान मोह विकार दूजा जोती जोति समाणी ।"[1]

इस ब्रह्म की ज्योति की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि मैंने सारे संसार को बड़े ध्यान से देखा है, मुझे तो सभी घटों और देशों में इसी ज्योति के दर्शन हुए हैं —

" मैं बहु विधि देखिओ दूजा नाही को कोऊ
घट घट सभ भीतर रविआ पूरि रहिओ सभ लोऊ ।"[2]

जिस प्रकार दूध में घी, और सभी फूलों में अग्नि निहित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म की ज्योति भी सभी प्राणियों में व्याप्त है —

" सगल वनसपति महि जैसतरु सगल दुध महि घीआ ।
ऊच नीच महि जोत समाणी घटि घटि माधउ जीआ ।"[3]

अतः स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव ने कबीर आदि संतों की भांति ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरूप को भी स्वीकार किया है ।

अनिर्वचनीय तत्व रूप ब्रह्म — प्राचीन काल से ही निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उसे अनिर्वचनीय तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है । इसका कारण यह है कि ब्रह्म के अनेक गुण और तदनुरूप अनेक रूप हैं । केनोपनिषद् में ब्रह्म के कतिपय गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :-

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 453

2 वही, महला 5, पद 2-2-33, पृष्ठ 535

3 वही, महला 5, पद 2-1-29, पृष्ठ 617

LIBRARY UNIVERSITY PATNA

252730

"जो शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रस रहित, और गंध रहित है तथा जो अविनाशी नित्य, अनादि, अनंत, महान्, सर्वश्रेष्ठ और सर्वथा सत्य तत्व है, उसे जानकर जीव सदैव के लिए मृत्यु के मुख से छूट जाता है।"[1] श्वेताश्वेतरोपनिषद् में श्री परमात्मा के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है – "जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठान कर रहा है और जिसमें यह समस्त जगत प्रलय काल में विलीन हो जाता है और सृष्टि काल में प्रकट भी हो जाता है उस सर्व नियन्ता परमेश्वर को तत्व रूप जान कर मनुष्य परमशांति को प्राप्त होता है।"[2]

गुरु अर्जुनदेव ने भगवान के स्वरूप की अनिर्वचनीयता तथा अनन्तता का वर्णन करते हुए कहा है, कि ब्रह्म में अनंत गुण है, लेकिन न तो अन्य जीव उन्हें जान ही पाता है और न उन तक पहुँच ही पाता है —

"गुण बेअंत किछु कथनु न जाई कोइ न सके पहुचा"[3]

xx xx xx

"बेअंत गुना ताके केतक गनी"[4]

xx xx

"तू बेअंत पार ब्रह्म सुआमी गति तेरी जाइ न लखी।"[5]

---

1 अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥
— कठोपनिषद् 1–3–15

2 यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकोयस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।
— श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 4–11

3 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4–3, पृष्ठ 578

4 वही, महला 5, पद 4–1–3, पृष्ठ 862

5 वही, महला 5, पद 2–18–121, पृष्ठ 1227

ऐसे ब्रह्म को ब्रह्म ही जानता है, क्योंकि जीव के सिर तो वह सदा अनिवर्चनीय ही बना हुआ है —

"तेरी महिमा तुं है जाणहि । अपणा आप तुं आप पछाणहि ।"[1]

xx xx xx xx xx

"संत रहत सुनहु मेरे भाई । ब्रह्म की महिमा कथनु न जाई ।"[2]

ब्रह्म की अनन्तता का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है — कि सारा संसार ऐसे प्रभु के गुण गा रहा है, जो काम क्रोध आदि विकारों से हमें मुक्त करता है —

"गुण गावहु पूरन अबिनासी कल मल सगले झारउ ।"[3]

xx xx xx xx

"कीरति करहि सगल जन तेरी तुं अबिनासी पुरख मुरारे ।"[4]

रसानन्द स्वरूप ब्रह्म — तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि "निश्चय ही जो यह सुकृत है वही रस है, क्योंकि रस ब्रह्मानन्द रस को पाकर जीवात्मा आनंद युक्त होती है ।"[5] संत-कवियों ने भी ब्रह्म के रसानन्द-स्वरूप का ऐसा ही वर्णन किया है । इन्होंने भी यही माना है कि केवल ब्रह्म ही पूर्ण आनन्दरूप तथा रसरूप है, जिसका आस्वादन करके जीवात्मा अपूर्व आनन्द से विभोर हो उठती है, अपनी सीमित सत्ताओं को भूलकर वह पारब्रह्म के आनन्द में लीन हो जाती है । कबीर के अनुसार यही वह रस है, जिसे पीकर आत्मा अनंत संसार से मरकर अपने अस्तित्व को भी सुख-युक्त खो बैठती है ।[6]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-42, पृष्ठ 108

2 वही, महला 5, पद 2-18-88, पृष्ठ 392

3 वही, महला 5, पद 2-19, पृष्ठ 531

4 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 670

5 यद्वैतत्सुकृतं रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥
— तैत्तिरीयोपनिषद् । 2-7-2

6 हरिरस पीया जानिये, जे कबहुं न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत रहै नाहीं तन को सार ॥
— कबीर ग्रंथावली. पृष्ठ 16

गुरु अर्जुनदेव ने श्री ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का पर्याप्त वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि वह आनन्दरूप ब्रह्म सत्य और सर्व गुण-सम्पन्न है —

"आनन्द अनुदिन सदा सांचा सरब गुण जगदीसरे।"[1]

वही प्रभु सुख का सागर है। अतः उसको कभी भी भुलाना नहीं चाहिए :—

"संतहु हरि हरि नाम धिआई।
सुख सागर प्रभु बिसरउ नाही मनहीदिवड़ा वसु पाई॥"[2]

यदि मन को अच्छा लगने वाला प्रभु मिल जाए तो सहज आनंद की प्राप्ति होती है —

"सुख सहज आनंदा। प्रभुमिलिओ मनि भावदा।"[3]

गुरु अर्जुनदेव ने उस आनंद स्वरूप प्रभु को सर्वव्यापी बताते हुए कहा है —

"अनद रूप रविओ सभ मधे जत कत पेखउ जाई॥"[4]

यदि उस प्रभु के नाम स्मरण का रस पीया जाए तो मन-तन सभी आनंद-विभोर हो जाते हैं —

"हरि हरि नाम निधानु रसु पीआ मन तन रहे अघाई।"[5]

अतः स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव ने श्री ब्रह्म को पूर्ण आनन्दरूप तथा रसरूप माना है, जिसे पाने से आत्मा को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-3-6, पृष्ठ 545

2 वही, महला 5, पद 2-20-48, पृष्ठ 620

3 वही, महला 5, पद 4-5-55, पृष्ठ 622

4 वही, महला 5, पद 4-10, पृष्ठ 674

5 वही, महला 5, पद 4-12-23, पृष्ठ 615

ब्रह्म का व्यक्त रूप — भक्ति भी इन संत-कवियों का प्रतिपाद्य रहा है और भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते समय इन्होंने ब्रह्म का व्यक्त रूप अर्थात् सगुण और निराकार ब्रह्म को अपनाया है । इसका कारण यह है, कि यद्यपि परमेश्वर का शुद्ध स्वरूप अनादि, अनन्त, अनिर्वाच्य, अचिन्त्य और 'नेति नेति' है, तथापि वह निर्गुण, अज्ञेय और अव्यक्त भी है । जब उसका अनुभव होता है, तब उपास्य-उपासक रूपी द्वैतभाव शेष नहीं रहता । इसीलिए उपासना का आरंभ वहीं से नहीं हो सकता । वह तो केवल अन्तिम साध्य है — साधन नहीं और तद्रूप होने की जो अद्वैत स्थिति है उसकी प्राप्ति के लिए उपासना केवल एक साधन या उपाय है । अतएव उस उपासना में जिस वस्तु को स्वीकार करना पड़ता है, उसका सगुण होना अत्यन्त आवश्यक है । गीता में ब्रह्म के व्यक्त रूप की आवश्यकता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि "साधक को अव्यक्त के प्रति अनन्यासक्ति संयुक्त करने के फलस्वरूप अत्यधिक क्लेश होते हैं, क्योंकि (व्यक्त अर्थात् देहधारी मनुष्य को) अव्यक्त की उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है ।"[1]

अतएव, संत-कवियों ने अपने मन को केन्द्रित करने के लिए ईश्वर में अनेक दिव्य गुणों का आरोप करके, उसके सगुण रूप की कल्पना की । अन्य संतों की भाँति ब्रह्म के व्यक्त रूप का वर्णन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने भी इनके साथ अनेक संबंधों की स्थापना की है, जैसे — माता-पिता, भाव का संबंध, सेव्य-सेवक भाव का सम्बन्ध, सख्य-भाव, दाता-भिखारी और दाम्पत्य सम्बन्ध ।

(क) माता-पिता व पुत्र का संबंध — गुरु अर्जुनदेव कहते हैं, कि हरि हमारी माता है, वे ही पिता है और वे ही रक्षक हैं । हम उनके बालक हैं । वे निरन्तर हमारा ध्यान रखते हैं । वे स्वाभाविक रूप से पालन-पोषण करते रहते हैं । इसमें वे तनिक भी आलस्य नहीं करते । वे अपने अबोध-बाल पुत्रों के अवगुणों

---

1 क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
— गीता, 12-5

की चिंता न करके उन्हें अपने गले से लगाते हैं । हरि हमारे इतने सुखदायी पिता हैं कि उनसे जो कुछ भी मांगा जाता है सब कुछ देते हैं । यही तक कि वे अपने पुत्र को योग्य समझ कर ज्ञान राशि और नाम-धन भी सौंप देते हैं ।" -

" हरि मे माता हरि जी पिता हरि जीउ प्रतिपालक ।
हरि जी मेरी सार करे हम हरि के बालक ॥
सहजे सहज खिलाइदा नहीं करदा आलक ।
अउगुण को न चितारदा गल सेती लाइक ॥
मुह मंगा सोई देवदा हरि पिता सुखदाइक ॥
गिआनु राशि नामु धनु सउपिओनु वसु सउदे लाइक ॥"[1]

(ब) सेव्य-सेवक भाव - ब्रह्म का सच्चा सेवक वही है जो सदा स्वामी की सेवा में रत रहे । थोड़ा सा मान, थोड़ा भी आलस्य दास को स्वामी की भक्ति से पराङ्मुख कर देता है । गुरु अर्जुनदेव ने तो यहां तक कहा है —

" पहिला मरणु कबूलि, जीवण की छडि आस ।
होहु सभना की रेणुका, तउ आउ हमारे पासि ॥"[2]

पहले मृत्यु को स्वीकार करके, जीवन की सभी आशाओं को त्यागकर और सभी की रेणुका बन कर तब हमारे पास आओ अर्थात् तब भक्ति पथ पर पैर रखो ।

इन्होंने मान, अभिमान और प्रसाद तथा आलस्य के लिए कोई गुंजायश नहीं छोड़ी एक अन्य स्थल पर अपने भाव इस प्रकार स्पष्ट किए हैं —

" हम दासे तुम ठाकुर मेरे
मानु महतु नानक प्रभ तेरे ॥"[3]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 21, पृष्ठ 1101-1102

2 वही, महला 5, पद 23 पृष्ठ 1102

3 वही, महला 5, पद 4-18, पृष्ठ ~~181~~ 188

(ग) सख्य-भाव — गुरू अर्जुनदेव ने प्रभु को ही अपना मित्र और सखा माना है और तन्मय होकर कहा है —

" तू मेरा सखा तूं ही मेरा मीतु ।
तूं मेरा प्रीतम तुम संगि हीतु ॥
तूं मेरी पति तूं है मेरा गहणा ।
तुझ बिनु निमखु न जाई रहणा ॥" [1]

अर्थात् तू ही मेरा साथी है, तू ही मेरा मित्र है, तू ही मेरा प्रीतम है और मेरा तेरे साथ प्रेम है । तू ही मेरी इज्जत है और तू ही मेरा श्रृंगार है । मैं तेरे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता ।

(घ) दाता-भिखारी का सम्बन्ध — गुरू अर्जुनदेव ने ब्रह्म को स्वामी सखा दाता और खसम मानते हुए कहा है —

" तुम दाते ठाकुर प्रतिपालक नाइक खसम हमारे ।" [2]

(ङ) दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध — गुरू अर्जुनदेव ने अनेक स्थलों पर जीवात्मा रूपी स्त्री की कल्पना की है, जो परमात्मा रूपी पति की अनन्य भक्त है । और प्रियतम परमात्मा उसके गुणों अवगुणों को भूल कर रूप रंग और श्रृंगार की चमक दमक की ओर ध्यान न देकर उसके आचार-व्यवहार की चिंता छोड़ कर उसे अपना लेते हैं —

" गुनु अवगनु मेरो कछु न बीचारो ।
नह देखिओ रूप रंग सीगारो ॥
चज अचार किछु विधि नहीं जानी ।
वाह पकीर प्रिअ सेजै आनी ॥" [3]

---

1 श्री गुरू ग्रंथ साहिब, महला 5, पद 4-18, पृष्ठ 181

2 वही, महला 5, पद 3-12, पृष्ठ 674

3 वही, महला 5, पद 4-7, पृष्ठ 372

जब आत्मा रूपी पत्नी अपने परमात्मा रूपी रंगीले पति को पा लेती है तो उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं —

" जन नानक कंत रंगीला पाइआ फिरि दुखु न लागै आइ ।"[1]

इस विवेचन से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि गुरु अर्जुन देव ने ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त रूप दोनों का ही वर्णन किया है । अव्यक्त रूप के अंतर्गत उन्होंने ब्रह्म के एकमेव ब्रह्म, सत्य-रूप ब्रह्म, ज्योति-रूप ब्रह्म, अनिवर्चनीय तत्व-रूप ब्रह्म और रसानंद-रूप ब्रह्म का तथा व्यक्त रूप के अंतर्गत माता-पिता भाव-सम्बन्ध, सैव्य, सेवक भाव-सम्बन्ध, सख्य भाव-सम्बन्ध, दाता-भिखारी भाव-सम्बन्ध और दाम्पत्य भाव-सम्बन्ध का विशेष रूप से वर्णन किया है ।

जीवात्मा का स्वरूप — भारतीय दर्शनों में सामान्यतः जीव और आत्मा में मूलभूत अंतर स्थापित नहीं किया गया है । इनके पार्थक्य का आधार आत्मा की बद्ध और मुक्त दशा को माना गया है । अतः अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को जीव कहते हैं ।[2]

जिस प्रकार परमात्मा संसार में व्याप्त है उसी प्रकार जीव भी एक देशीय स्थिति से संसार में विद्यमान रहता है । परमात्मा संसार के सुख दुखों से विलग कर्म बन्धनों से हीन और जीव सुख-दुख में बंधा हुआ तथा कर्म बंधनों के द्वारा भोग करता हुआ संसार में रहता है । जीव और परमात्मा की इस स्थिति का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में बताया गया है कि "सदा साथ रहने वाले, परस्पर सख्य भाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं, उनमें से एक (जीव) उस वृक्ष (संसार) के फलों का उपभोग करता है किंतु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ साक्षी रूप में केवल देखता रहता है ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1266

2 गीता रहस्य, पृष्ठ 211

3 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
— ऋग्वेद, 1-164-20

संत-कवियों ने प्रकारान्तर से जीव और परमात्मा की इसी स्थिति का वर्णन किया है । उन्होंने जीव को परमात्मा का अंश मानकर उसकी अमरता का, तादात्म्य का और कर्म-बंधनों में बद्ध मानकर अल्पज्ञता आदि का वर्णन किया है । गुरु नानकदेव ने कहा है कि परमात्मा के 'हुकुम' से ही जीवों की उत्पत्ति और अंत होता है । अर्थात् जीव परमात्मा का अंश है, इसी लिए वह अमर है । परमात्मा के गुण अनंत हैं, इसी लिए जीव भी अनंत हैं । गुरु अर्जुनदेव ने परमात्मा और जीवों के पारस्परिक संबंध का विवेचन करते हुए लिखा है कि यद्यपि जीव अनन्त हैं, पर वे सब माला के दानों की भाँति एक ही सूत्र में पिरोए हुए हैं । और जिस प्रकार माला के सूत्र में पड़ी हुई गाँठें भिन्न-भिन्न होती हैं, उसी प्रकार जीवों की स्थिति भी भिन्न दिखाई देती है —

" एके सूति पिरोए मणीए
गाठी भिनि भिनि भिनि भिनि तणीए ।"[1]

इसी लिए परमात्मा को जीवों का स्वामी और उनका पालन-कर्ता बताया गया है —

" जीअ जंत सभ तेरे कीते घटि घटि तुही धिआईऐ ।
तेरी गति मिति तू है जाणहि कुदरति कीम न पाईऐ ।"[2]
×× ×× ×× ××
" जीउ पाइ पिंडु जिनि साजिआ दिता वेखणु खाणु ।"[3]

सांसारिक भावों में बँधकर जीव में अल्पज्ञता आदि के भाव आ जाते हैं, और वह अपने स्वरूप परमतत्व को भूलकर सांसारिक मोह-माया में बँधकर, विवश और शक्तिहीन हो जाता है । गुरु अर्जुनदेव ने जीव की इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है —

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 1-12, पृष्ठ 886

2 वही, महला 5, पद 4-6-53, पृष्ठ 748

3 वही, महला 5, पद 2-16-44, पृष्ठ 620

" कठ की पुतरी कहा करै बपुरी खिलावन हारो जाने ।
जैसा भेखु करावै बाजीगरु ओहु तैसो सानु आने ।
अनिक कोठरी बहुतु भाति करीआ आपि होवा रखवारा ।
जैसे महलि राखै तैसे रहना किआ हहु करै बिचारा ॥ "[1]

अर्थात्, कठपुतली (जीव) बेचारी कर क्या सकती है ? उस कठपुतली का सूत्र धार (परमात्मा) ही उसकी सारी गति-विधि को जान सकता है । उसका सूत्रधार जैसा-जैसा उससे वेश धारण करवाएगा, उस बेचारी को वैसा-वैसा ही वेश धारण करना पड़ेगा । परमात्मा ने अनेक कोठरियों (जीवों) का भिन्न-भिन्न रूपों में निर्माण किया है । वही उन कोठरियों का रक्षक है । जिस प्रकार परमात्मा उसे रखना चाहता है वैसे ही उसे रहना पड़ता है ।

सांसारिक माया से ग्रस्त होने के कारण, जीव को अनेक योनियों में पड़कर अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं । वह अपनी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करने के लिए सारे जीवन भ्रमवश दौड़ता रहता है, पर उसकी सारी आयु बीत जाने पर भी उसके मन की आशा-आकांक्षाएँ अधूरी और दुखद ही सिद्ध होती हैं । गुरु अर्जुनदेव ने जीव की माया ग्रस्त दशा का वर्णन इस प्रकार किया है --

" सुपने सेती चितु मूरखि लाइआ ।
बिसरे राज रस भोग जागत भखलाइआ ॥
आरजे गई बिरथे धंधे धाइआ ॥
पूरन भए न काम मोहिआ माइआ ।"[2]

अपने सांसारिक कार्यों को पूरा करने के लिए जीव अनेक प्रकार के पाप करता है, जिसके कारण उसे महा वज्रवत् और विषतुल्य व्याधियों की पोटली अपने सिर पर उठानी पड़ती है, किन्तु जब उसके पापों का भंडाफोड़ हो जाता है और यमराज के दूत उसे घसीट कर ले जाते हैं, तब उसे अपने पापों के कारण

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 5-5-126, पृष्ठ 206

2 वही, महला 5, पद 8, पृष्ठ 707

अनेक पशु, प्रेत, ऊँट, गंधर्व आदि की योनियों का कष्ट उठाना पड़ता है —

" महा बजर बिख बिआधी सिर उठाई पोट
उधरि गहआ बिनहि भीतरि जमहि प्रासे छोट ।
पसु परेत उसट गरधभु अनेक जोनी लेट ।" [1]

यही जीव, शरीर के आवरण और सांसारिक भावों का त्याग करके अन्त में मुक्त आत्मा बनकर परमात्मा में मिलकर तदाकार हो जाता है —

" इम ओइ मिलि होए इक रंगा " [2]

भारतीय दर्शनों में परमात्मा के विवेचन की भाँति आत्मा के विवेचन का भी विशेष महत्व रहा है इसी लिए इसके स्वरूप का भी विस्तार से वर्णन किया गया है । बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के महत्व का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह आत्मा को ही जाने और उसी की उपासना करे।" [3] भगवद्गीता में आत्मा के स्वरूप का बहुत ही विस्तार से विवेचन हुआ है । इसके अनुसार — "यह सम्पूर्ण जगत् जिसने व्याप्त किया हुआ है वह मुक्त आत्म-स्वरूप तत्व अविनाशी है । इस अव्यय तत्व का विनाश करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है । [4] वह न जन्म लेता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं कि वह कभी था नहीं, और न होगा ही । वह अज, नित्य, शाश्वत, एवं सनातन है । शरीर का नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता । [5] वह कभी

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-81-104, पृष्ठ 1224

2 वही, महला 5, पद 4-32-83, पृष्ठ 391

3 (क) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः
— बृहदारण्यकोपनिषद्, 2-4-5
(ख) आत्मेत्येवोपासीत्
— वही, 1-4-7

4 अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥
— गीता, 2-17

5 न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।
— गीता, 2-20

न कटने वाला, न जलने वाला, न भीगने वाला और न सूखने वाला नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है ।[1] जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण करता है ।[2]

संत-कवियों का आत्मा के स्वरूप का विवेचन भगवद्गीता के विवेचन पर आधारित प्रतीत होता है, क्योंकि इन दोनों में अत्यधिक साम्य है । उदाहरणार्थ कबीर की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं —

" जो उपज्या सो पचिसी, नाँव धर्या सो जाइ ।
कबीर सोई तत्तगहि, जो गुरि दिया बताइ ॥ "[3]

गुरु अर्जुनदेव ने भी आत्मा के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन किया है । यह शरीर पाँच तत्वों से निर्मित है । शरीर के नष्ट होने पर वे पाँचों तत्व अपने-अपने तत्वों में मिल जाते हैं, अर्थात् पवन-पवन में, ज्योति-ज्योति में, मिट्टी-मिट्टी में । इस नश्वर शरीर का नाश होने पर जो व्यक्ति रोते हैं, वे वस्तुतः मूढ़ और संसार के माया-जाल में बँधे हुए हैं । वस्तुतः न कोई मरता है, न मारा जाता है । संसार का चक्र ही ऐसा है जिसमें आवागमन बना रहता है । यह सब क्रिया परमात्मा की आज्ञा से ही चलती है । आत्मा अमर है, इस तत्व को समझने वाले व्यक्ति विरले ही हैं । माया जन्य भ्रम के कारण ही मनुष्य जीवन-मरण में पार्थक्य स्थापित करता है । जब गुरु की कृपा से व्यक्ति का शरीर नष्ट हो जाता है, तब उसे ज्ञान होता है कि न तो कोई मरता है और न कोई आता-जाता है —

---

1 अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
— गीता 2-24

2 वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
— गीता, 2-22

3 कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ 73

" पवने मिह पवनु समाइआ । जोति मिह जोति रलि जाइआ ।
माटी माटी होइ एक ॥ रोवन हारे को कवन टेक ॥ १ ॥
कउ नु मुआ रे कउ नु मुआ ॥
ब्रह्म गिआनी मिति करहु बीचारा इहु तउ सतु भइआ ॥
अगती किछु खबरि न पाई ॥ रोवन हारे भि उठे सिधाई ।
भरम मोह के बाधे बंध ॥ सुपनु भइआ मलाए अंध ॥
इहु तउ रचनु रचिआ करतारि ॥ आवत जावत हुकमि अपारि ॥
नह कोमुआ न मरणे जोगु ॥ नह बिनसै अबिनासी होगु ॥
जो इहु जानहु सो इहु नाहि ॥ जानणहारे कउ बलि जाउ ॥
कहु नानक गुरि भरमु चुकाइआ ॥ ना को मरै न आवै जाइआ ॥"[1]

जैसाकि ऊपर बताया गया है कि उपनिषदों में आत्मा को ही ज्ञातव्य तत्व माना गया है । गुरु अर्जुनदेव भी इसी मन्तव्य का अनुसरण करते हुए मनुष्य को उपदेश देते हैं ।—

" पुतरी तेरी बिधि कोरे बारी ॥ जानु सति करि होइगी माटी ॥
मूलु समालहु अचेत गवारा । इतने कउ तुम किआ गरबे ॥
तीनि सेर का दिहाड़ी मिहमानु ॥ अवर वसतु तुम पाहि अमान ।
बिसटा असत रकतु परेटे चाम ॥ इसु ऊपरि ले राखिओ गुमान ॥
एक वसतु बुझहि ता होवहि पाक ॥ बिनु बूझे तू सदा नापाक ॥"[2]

अर्थात् मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि यत्नों से बनाया हुआ शरीर एक दिन मिट्टी में मिल जाएगा । इस नश्वर शरीर के लिए मनुष्य को प्रभु से विमुख होकर गर्व नहीं करना चाहिए । मनुष्य का यह शरीर हड्डियों और मांस का बना हुआ है और वह भी यहीपर तीन सेर अनाज के लिए मेहमान है । मनुष्य को इसकी

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4–10, पृष्ठ 885

2 वही, महला 5, पद 5–14, पृष्ठ 374

नश्वरता समझ कर प्रभु से प्रेम करना चाहिए, तथा अपने शरीर को पवित्र बनाना चाहिए ।

आत्मोपलब्धि का आनन्द भी ब्रह्मानन्द के समकक्ष माना गया है, इसलिए उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म की समानता वर्णित है ।[1] आत्मोपलब्धि की अवस्था में आत्मा ब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव का अनुभव करती है जिसके कारण उसके सभी सांसारिक भाव तिरोहित हो जाते हैं और वह अपार तथा अलौकिक आनन्द का अनुभव करती है । इस प्रकार के सहजानन्द अथवा आत्मानंद की हृदय में उठने वाली हिलोरों का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इस प्रकार किया है —

" भइयो प्रगासु सरब उजीआरा गुर गिआनु मनहि प्रगटाइओ ॥
अमृतु नामु पीओ मन तृपतिआ अनभै ठाकुराइओ ॥
मानि आगिआ सरब सुख पाए दुखह ठाउ गवाइओ ॥
अउ सुप्रसंन भए प्रभु ठाकुर सभु आनंदु दसु दिखाइओ ॥
ना किछु आवत न किछु जावत सभु खेलु कीओ हरि राइओ ॥ "[2]

जब से मुझे गुरु ज्ञान की प्राप्ति हुई है, तब ही से प्रत्येक स्थान पर मुझे प्रभु की ज्योति ही दृष्टिगोचर होती है । गुरु कृपा से आत्मिक जीवन देने वाला नाम प्राप्त हो पाया है, जिससे मेरे मन की तृष्णाग्नि समाप्त हो गई है । गुरु कृपा से ही मुझे सब सुख प्राप्त हुए हैं और इस बात का भी ज्ञान हो गया है कि इस संसार में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है, बल्कि यह तो प्रभु ने एक खेल बनाया हुआ है ।

---

1 (क) अयमात्मा ब्रह्म
— बृहदारण्यकोपनिषद्, 2-5-19
(ख) अहं ब्रह्मास्मि
— वही, 1-4-10

2 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-15-136, पृष्ठ 209

(ख) " अमावस आतम सुखी भए संतोखु दिया गुरदेव ॥
मनु तनु सीतलु सांति सहज लागा प्रभ की सेव ॥
टूटे बंधन बहु विकार सकल पूरन ता को काम ॥
दुरमति मिटी इउ मै छुटी सिमरत हरि को नाम ॥
सरनि गही पार ब्रह्म की मिटिआ आवागवन ॥
आदि तरिआ कुटंब सिउगुण गुबिंद प्रभ रवन ॥
हरि की टहल कमावणी जपीऐ प्रभु का नामु ॥
गुर पूरे ते पाइआ नानक सुख विस्रामु ॥ "[1]

गुरु कृपा से ही मनुष्य को मानसिक शान्ति तथा आत्मिक निरंतरता के लिए नाम की प्राप्ति होती है । नाम स्मरण से मनुष्य अनेक प्रकार के मानसिक विकारों अहंकार आदि से छुटकारा मिल जाता है । जो मनुष्य प्रभु के नाम का सहारा लेता है, वह परिवार सहित भवसागर से पार उतरता है तथा आवागमन के चक्कर से मुक्ति पा लेता है ।

इस आत्मोपलब्धि के आनंद को प्राप्त करने के लिए संतों ने अनेक साधनों का उल्लेख किया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी इन साधनों का उल्लेख इस प्रकार किया है —

" गुर सबद रिद अंतरि धारे । पंचजना सिउ संगु निवारे ।
दस इन्ही करी राखे वासि । ताके आतमे होइ परगासु ॥
ऐसी दृढता ताके होइ । जाकउ दइआ मइआ प्रभ सोइ ॥
साजन दुसटु जाके इक समाने । जैसा मोलमु तैसा गिआने ।
जैसा सुपना तैसा नामु । तैसा पैखनु तैसा विस्रामु ॥
सहजे आवनु सहजे जाना । सहजे होता जात सु होइ ॥
सहजि बैरागु सहजे ही रहना । सहजे कुल सहजे ही गहना ॥ "[2]

---

1 श्री गुरु ग्रंथसाहिब, महला 5, पद 15, पृष्ठ 300

2 वही, महला 5, पद 8-3, पृष्ठ 236

अर्थात् इस आत्मोपलब्धि के आनन्द को वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसपर परमात्मा की कृपा होती है । जो गुरु की शिक्षा को ध्यान में रखकर काम, क्रोध आदि पाँच विकारों तथा इन इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है, जिसको मित्र और शत्रु समान लगते हैं, जो केवल प्रभु का गुणगान सुनता है और प्रभु में लीन रहने के लिए चारों ओर देखता है, वह प्रत्येक अवस्था (सुख-दुख) में, सोते हुए जागते हुए प्रभु के प्रत्येक कार्य को सहर्ष स्वीकार करता है ।

अन्य भारतीय दार्शनिक एवं संत-कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव भी आत्मा को पूर्ण एवं अखण्ड मानते हैं । आत्मा ही वह परम तत्व है जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं और आत्मा के स्वरूप का बोध हो जाने पर किसी अन्य बोध की आवश्यकता नहीं रह जाती —

" आपु गइआ ता आपहि । कृपानिधान की सरनी पए ।
जो चाहत सोइ अब पाइआ । तब दूखन कहा को भाइआ ।
अनिदर भए बसे सुख आसन । गुर प्रसाद नानक सुख बासन ॥ "[1]

आत्मा और परमात्मा का अंशांशी सम्बन्ध है । काया का आवरण बीच में आने के कारण ही आत्मा परमात्मा से भिन्न भासित होता है । जब यह आवरण समाप्त हो जाता है, तो अंश पुनः अंशी में मिल कर तदाकार हो जाता है । सभी संत-कवियों ने इस मान्यता का समर्थन किया है । कबीर दास ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

" जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि भीतरि पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथौ गिआनी ॥ "[2]

गुरु अर्जुनदेव भी आत्मा और परमात्मा के इसी सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं —

" हम इतु नाही एके ओही । आगै पीछै एको सोई ॥
नानक गुरि खोए हम भंगा । हम ओह मिलि होवे इक रंगा ॥ "[3]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-110, पृष्ठ 202
2 कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 103
3 श्री गुरु ग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-32-83- पृष्ठ 391

इसीलिए आत्मा में भी परमात्मा के गुण आ जाते हैं । आत्मा भी परमात्मा की ही भाँति अमर, अनश्वर, अमायातीत, दुःखातीत, वंश-हीन, दोषहीन, आदि गुणों से मंडित हो जाती है —

" ना ओहु मरता न हम डरिआ । ना ओहु बिनसै ना हम कढ़िआ ।
न ओहु निरधनु ना हम धुंधे । न ओसु घुघु न हम कउ घुघु ।
अवरु न कोउ मारनवारा । जीअउ हमारा ओहु देनहारा ।
ना उसु बंधन न हम बधि । ना उसु धंधा न हम धाधे ।
ना उसु मैलु न हम कउ मैला । ओसु अनंदु त हम सद केला ॥
न उसु सोगु न हम कउ सोचा । न उसु लोभु न हम कउ लोभा ।
ना उसु दुखु न हम कउ दुखना । आ उहु निरमलु तां हम जपना ।"[1]

जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी अपनी इच्छानुसार कुछ नहीं कर सकता । वह प्रभु की आज्ञानुसार ही भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रवेश करता है । अतः स्पष्ट है कि जीवात्मा में परमात्मा के गुण विद्यमान होते हुए भी वह परमात्मा की आज्ञा के अधीन है । अतः गुरु अर्जुनदेव के अनुसार आत्मा परमात्मा का अंश होते हुए भी परमात्मा नहीं हो सकती । इस प्रसंग में डा. सुरेन्द्र सिंह कोहली के ये शब्द उल्लेखनीय हैं —

" जीव एक प्रकार से ब्रह्म का ही अंश है । इसका अपना
निजरूप है । परन्तु क्योंकि यह ब्रह्म में से आया है इसलिए
इसमें ब्रह्म वाले गुण विद्यमान हैं । "[2]

यही आत्मा जब माया-ग्रस्त हो जाती है तो अपने स्वरूप को भूलकर सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसकर अनेक प्रकार के दुःख उठाती है। इसे महाबज्र की तरह और सिंह के समान व्याधियों की पोटली सिर पर उठानी पड़ती है । युग ही अंगों में इसके पापों का भंडाफोड़ होने के कारण यम के दूत

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-32-63, पृष्ठ 391

2 डा. सुरेन्द्र सिंह कोहली, आउटलाइन्ज आफ सिख थाट, पृष्ठ 27

इसे भाँति-भाँति के कष्ट देते हैं और अपने नीच कर्मों के अनुसार उसे अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है —

" मड़ा बजर सिख सिआणी सिर उठाई चोट ।
उधरि गईआं बिनठि भीतरि जमहि घाले झोट ।
पसु परेत उसट गरधभु अनेक जोनी लेट । "[1]

इस विवेचन के आधार पर यह असन्दिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव ने जीवात्मा के स्वरूप का जो वर्णन किया है, वह भारतीय दर्शन तथा संत-कवियों की परम्परा से आबद्ध है ।

माया का स्वरूप

भारतीय दर्शन में मायावाद का विशिष्ट स्थान रहा है । माया शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में आदिकाल से ही प्राप्त होता है । ऋग्वेद में माया का प्रयोग 'शक्ति' के अर्थ में हुआ है । यथा —

'इन्द्रो मायाभि पुरु रूप ईयते'[2]

अर्थात्, इन्द्र अपनी शक्ति से अनेक प्रकार के रूप धारण कर लेता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रूप दर्शाने की क्रिया माया है । वेदों के पश्चात् उपनिषदों में इसी का आधार लेकर माया का विस्तृत और बहुमुखी विवेचन हुआ है । कठोपनिषद्कार ने माया के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि — "आत्मा स्वरूप परमपुरुष सब प्राणियों में रहता हुआ भी माया के आवरण में छिपा हुआ रहने के कारण सब को प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों के द्वारा ही उसे सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जा सकता है ।"[3] श्वेताश्वेतरोपनिषद् में माया को प्रकृति का रूप बताते

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, पद 2-8-40, पृष्ठ 1224
2 ऋग्वेद, 6-47-18
3 एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।"
— कठोपनिषद् 1-3-12

कहा गया है कि "माया तो प्रकृति को समझना चाहिए, और महेश्वर को मायापति। उसी के अंगभूत कारण-कार्य समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।"[1] गीता में 'माया' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक तो कृष्ण (ईश्वर) की शक्ति के रूप में और दूसरा अविद्या, भ्रम आदि के रूप में। माया के इन दोनों रूपों का उल्लेख कृष्ण अर्जुन से इन शब्दों में करते हैं —"मेरी यह गुणमयी और दिव्य माया दुस्तर है। इस माया को वे ही पार कर पाते हैं जो मेरी शरण में आ जाते हैं।[2] ..... माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़कर मेरी शरण में नहीं आते।"[3]

संत-कवियों ने माया के स्वरूप के वर्णन में इसी भारतीय परम्परा का प्रभाव ग्रहण किया है। गुरु अर्जुनदेव की माया-विषयक प्रमुख विचार सरणियाँ हैं — माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, यह परमात्मा की ही सृष्टि है, माया परमात्मा के वशीभूत रहती है, माया त्रिगुणात्मक है, माया की शक्ति असीम है और माया अज्ञान आदि की जननी है।

जिस प्रकार श्वेताश्वेतरोपनिषद् में "माया प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"[4] और गीता में — "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"[5]

---

1 मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥"
— श्वेताश्वेतरोपनिषद, 4-10

2 दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
— गीता, 7-14

3 न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
— गीता, 7-15

4 श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 4-10।

5 गीता, 7-14

के द्वारा आत्मा को परमात्माश्रित बताया गया है, उसी प्रकार गुरू अर्जुनदेव ने भी माया को ब्रह्मोद्भव माना है, और बताया है कि ब्रह्म से प्रेरित होकर ही यह संसार में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है —

" मत्ता करउ सो पकनि न देई ।
सील संजम के निकटि बतोई ।
बेस करे बहु रंग दिखावे ।
गृहि बसनि न देई बहि बहि धरमावे ।
घर की नाइकि घर बासु न देवै ।
जतन करउ उरझाइ परेवै ।
पुर की मेनी आई आमरि ।
नउखंड मीते सभि थान थनंतर ।
तट तीरथि न छोड़ै जोग संनिआस ।
पड़ि थाके सिमृति बेद अभिआस ।
जह बैसउ तह नाले बैसे ।
सगल भवन महि सबल प्रवेसे ।
छोछी करनि वडआ रहणु न पाई ।
कहु नीता इउ के पति जाई ।"[1]

अर्थात् मेरे किसी भी विचार को यह पूरा नहीं होने देती । सुशील स्वभाव और संयम की रक्षक बन कर खड़ी रहती है, इसलिए न तो मैं संयम धारण कर सकता हूँ और न सुशील स्वभाव ही । माया मुझे भ्रम में डालने के लिए अनेक रंग धारण करती है और मेरे मन को स्थिर नहीं रहने देती । यह मेरे हृदय की स्वामिनी बन गई है इसलिए मन मेरे वश में नहीं रहा । मैं जब भी आत्मिक स्थिरता के लिए प्रयत्न करता हूँ यह मुझे उतना ही उलझा देती है । यह परमात्मा की भेजी हुई है । इसने समस्त संसार को प्रभावित किया हुआ है, यहाँ तक कि समस्त तीर्थ स्थान, योगी, सन्यासी भी इसके प्रभाव से नहीं बच पाए ।

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-4, पृष्ठ 37।

स्मृति और वेदों का पढ़ कर करके पंडित लोग भी हार गए हैं । मैं जहाँ भी बैठता हूँ ये वहीं आकर बैठ जाती है यह बहुत शक्ति शाली है । इसलिए हे मित्र तुम ही बताओ कि इससे मुक्ति पाने के लिए मैं किसकी शरण ग्रहण करूँ ?

संत-कवियों ने इस माया को अत्यंत शक्तिशाली माना है । कोई भी इसके प्रभाव से बच नहीं पाता । यहाँतक कि यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मोहित कर लेती है । गुरु अर्जुनदेव ने भी इसके इस रूप का वर्णन इस प्रकार किया है —

" माथे त्रिकुटी दृसटि करूर । बोलै कड़ूआ सिहवा की कूढ़ि ।
सदा भूखी सिरु जाने दूरि ॥
ऐसी इसत्री इक राम उपाई ।
उन सभु जगु आणा इस पुरि राखे मेरे भाई ।
पाड़ ठगउली सभुजगु खाइआ । ब्रह्मा बिसनु महादेउ मोहिआ ।
गुरमुखि नामि लागे से सोहिआ ।" [1]

अर्थात् माया के माथे पर बल और दृष्टि में कठोरता होती है । उसकी वाणी में कड़वापन होता है । वह सदा भूखी और परमात्मा से दूर रहती है । इस मायावी स्त्री की रचना राम (परमात्मा) ने की है । यह माया सारे जग को आत्मसात् और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को भी मोहित कर लेने वाली होती है । केवल गुरु-कृपा से ही इससे मुक्ति मिल सकती है ।

माया के त्रिगुणात्मक रूप का गुरु अर्जुनदेव ने इस रूपक के द्वारा बहुत ही सरस एवं प्रभावशाली वर्णन किया है । यह माया परमात्मा के नियंत्रण में रहती है, और उन्हीं की आज्ञा से सारे कार्य करती है —

" इक दासी सारी सबल पसारी जीअ जंत ले मोहनिआ ।" [2]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-2-96, पृष्ठ 394
2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 924

परमात्मा सर्वज्ञ है । वही जब अपनी क्रीड़ा में तीन होता है – स्वयं ही देखने वाला स्वयं ही अपने यश को सुनने वाला बनता है – तब वह आज्ञाकारिणी माया की सृष्टि करता है –

" सरब भूत आपि करतारा । सरब नैन आपि पेखन हारा ।
सगल समग्री जा का तना । आपनु जसु आप ही सुना ।
आपन जानु इहु खेल अगाधा । आज्ञाकारी कीनी माधा ।
सभ के मधि अलिपतो रहै । जो किछु कहना सु आपै कहै ।"[1]

माया की शक्ति असीम है । यह अपने अनेकात्मक रूपों के कारण समस्त रूपों में व्याप्त रहती है । इसकी शक्ति और अनेकरूपता का वर्णन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने कहा है कि कहीं तो यह स्वर्ग-लोक के विस्तार के रूप में व्याप्त हो रही है, और कहीं स्वर्ग-नरक और अवतारों के बीच रम रही है । सोम में यही माया मूल व्यापी का रूप धारण करके व्याप्त रहती है । इस प्रकार यह अनेक रूपात्मक है, किन्तु परमात्मा की कृपा के कारण सन्तों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अहंकार माया का ही रूप है । पुत्र-पत्नि के मोह-रूप में यही राज्य करती है । हाथी, घोड़े और सुन्दर वस्तुओं में इसी का साम्राज्य है । रूप-यौवन के उन्माद में, भूमि, रंगों और अनेक रागरंगों में सुन्दर गीतों की सुर-लहरी में, मोहक तान के रूप में, सुन्दर सेजों, महलों तथा अनेक प्रकार के शृंगारों में इसी का रूप दृष्टिगोचर होता है, काम, क्रोध मद, लोभ, मोह, में यही रमण करती है । कर्मों में यही बन्धन का कारण है । गृहस्थियों और उदासियों में माया का प्रभाव समान रूप से व्याप्त है । आचारों, व्यवहारों और जातियों के बीच यही व्याप्त दिखाई दे रही है । यह माया हरि-विमुखों पर अपना प्रभाव डालती है –

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 23, पृष्ठ 294

"माया दरब सोग विसथार, माया सरग नरक अवतार ।
माया धन तिरथन देवि सोभा, मुकु माया माया सभि लोभा ॥
माइआ माया बहु परकारी । संत जीवहि प्रभ ओट तुमारी ।
माया अंध बुधि का माता । माया पुत्र कलत्र संगि राता ।
माया हसति घोड़े अरु वसता । माया रूप जोबन मद मसता ॥2॥
माया भूमि रंक अरु राजा । माया गीत नाद सुनि बाजा ।
माया सेज महल सीगार । पंच भूत माया अधिकार ।
माया करम करे इउ फासा । माया तिरसत माया उदासा ।
आवार पिउहार माया इह जाति । सभ किछु माया तिसु
डरि रंग रात ।"[1]

माया की शक्ति इतनी प्रबल है, कि यह अपने सत्व, रज और तम गुणों से सारे भुवनों, सारी दिशाओं और सारे संसार को वशीभूत किए हुए है —

"त्रिहि गुणे वसि अपने त्रैगुण सभव चतुर संसारा ।
जग इसनान, तापु, धान, खंडे, किआ इहु मंतु विचारा ॥"[2]

माया ही अज्ञान, भ्रम आदि की जननी है । यही मनुष्य को भ्रम में डालकर सारी आयु उसे अंधकार में भटकने के लिए छोड़ देती है । गुरु अर्जुनदेव ने माया को भ्रम की दीवार और अज्ञान का सघन वन बताया है, जिससे दैहिक काम, क्रोध आदि चोर मन को लूटते रहते हैं —

"कमला भ्रम भीति कमला भ्रम भीति है ।
तीखण मद विपरीत है, अवध अवकारय जात
गहबर धन घोर गहबर धन घोर है,
गृह मूसत मन चोर है दिनकरो अनु दिन जात ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 5-11, पृष्ठ 181-182
2 वही, महला 5, पद 5-11, पृष्ठ 673
3 वही, महला 5, पद 4-1-14, पृष्ठ 461

इस मायाछलिनी माया से बचने के लिए गुरुओं ने अनेक साधनों का उल्लेख किया है । गुरु अर्जुनदेव ने माया से बचने का सर्वोत्तम उपाय 'माया से विमुख' हो जाना ही बताया है —

" गहु करि फकीरि न आई छाडि ।
हीति करि वाती नहीं साथि ॥
कहु नानक अउ तिआगु करि ।
तब ओह चरणी आइ पई ॥ "[1]

माया क्षणभंगुर और अनित्य है —

" माइआ रंग बिरंग तिने मोहि लिउ बादर की छाइआ । "[2]

xx xx xx xx

" माइआ का रंगु खसु जिउ जाती बिनसि निदान "[3]

तीनों लोकों पर अपना प्रभुत्व जमाने वाली माया भी साधु-गुरुओं के पैर मल-मल कर धोती है —

" ब्रह्म लोक अरु खंड लोक आई इन्द्र लोक ते धाई ।
साध संगति कउ जोहि न साकै मलि मलि धोवै पाई "[4]

परन्तु यह साधु-संगति भी भगवत्कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है । गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि जिस प्राणी पर प्रभु अपनी कृपा करता है, उसे सत्संगति मिलती है, जिससे उसे माया से छुटकारा मिल जाता है —

" भए कृपाल दइआल प्रभ मेरे साध संगति मिलि छूटे "[5]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-18-29, पृष्ठ 891
2 वही, महला 5, पद 3-7-16, पृष्ठ 1003
3 वही, महला 5, पद 2-8, पृष्ठ 45
4 वही, महला 5, पद 2-13-23, पृष्ठ 500
5 वही, महला 5, पद 3-1-9, पृष्ठ 497

संत-कवियों ने गुरु की महत्ता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की है । इनके अनुसार, माया से मुक्ति दिलाने में गुरु सबसे अधिक और समर्थ शक्ति है । माया से मुक्ति दिलाने में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने कहा है —

" सुनि उपदेसु सतिगुर पहि आइआ । गुर हरि हरि नामु मंतु दृढ़ाइआ ।
निज घरि बसिआ गुण गाइ अनंता । प्रभु मिलिओ नानक भए अचिंता "[1]

अर्थात्, उपदेश सुनकर गुरु के पास आया । गुरु ने हरि नाम का अबोध मंत्र दृढ़ कर दिया । गुरु के अनन्त गुणों को गाकर अपने वास्तविक घर (आत्मा-स्वरूप) में स्थान पाया । इस प्रकार मुझे प्रभु की प्राप्ति हो गई और माया के सारे बन्धन कट गए, और परम निश्चिन्तावस्था प्राप्त हो गयी ।

अतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव द्वारा माया के स्वरूप का और माया से मुक्ति के साधनों का जो वर्णन हुआ है, वह भारतीय दार्शनिक विचारधारा एवं संत-परम्परा के अनुरूप है ।

सृष्टि - रचना

सृष्टि रचना का तात्विक विवेचन भी भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है । इस विषय पर सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है — तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नश्वर दृश्य सृष्टि भी न थी । अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह वेद भी) न था । इसी प्रकार रात्रि और दिन का फेर समझने के लिए कोई साधन न था । जो कुछ था, वह अकेला एक ही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायु के बिना श्वासोच्छ्वास लेता अर्थात् स्पंदित मान होता रहा इसके अतिरिक्त या परे कुछ भी न था ।"[2]

परवर्ती उपनिषद् कारों ने इसी आधार को ग्रहण करके भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त किया है । यद्यपि उपनिषद्कारों के विवेचनों में पूर्ण

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-4, पृष्ठ 371

2 ऋग्वेद मण्डल 10, 29, सूक्त संख्या 2

मतैक्य नहीं है, तथापि प्रायः सभी इस सिद्धान्त से सहमत हैं कि सृष्टि का कर्ता परमात्मा ही है । सत-कवियों ने भी परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता माना है । यह ही कारण भी है और कार्य भी । गुरु अर्जुनदेव ने भी इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए कहा है —

" करण कारण प्रभु एकु है दूसर नाही कोइ ।
नानक तिसु बलिहारणै जलि थलि महीअलि सोइ ।"[1]

गुरु अर्जुनदेव के अनुसार, सृष्टि-रचना से पहले ब्रह्म अपनी 'सुन समाधि' में लीन था । उस समय उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था । धरती, आकाश दिन, रात, चाँद, सूर्य किसी की भी सत्ता नहीं थी । केवल वह स्वयं ही था —

" जब आकर इहु किछु न दृसटेता । पाप पुन तब कह ते होता ।
जब आपी आपन सुन समाधि । तब वैर विरोध किसु संगि कमाति ।
जब इसका बरनु चिहनु न जापत । तब हरख सोग कहु किसहि बिआपत
जब आपन आप आपि पारब्रह्म । तब मोह कहा किसु होवत भरम ।
आपन खेलु आपि वरतीजा । नानक करने अवरु न दूजा । "[2]

xx xx xx xx xx

" जह निरमल पुरखु पुरख पति होता । तह बिनु मैलु कहहु किआ धोता ।
जह निरंजन निरंकार निरवान । तह कउन कउ मान कउन अभिमान ।
जह सरब कैवल जगदीस । तह छल छिद्र लगत कहु कीस ।
जह जोति सरूपी जोति संगि समावै । तह किसहि भूख कवनु तृपतावै ।
करन करावन करनैहार । नानक करते का नाहि सुमार ।
जब अपनी सोभा आपन संगि बनाई । तब कवन माइ बाप मित्र सुत भाई ।
जब सरब कला आपहि परवीन । तह बेद कतेब कहा कोऊ चीन ।
जब आपन आपु आपि उरि धारै । तउ सगन अपसगन कहा बीचारै ।
जह आपन उच आपन आपि नेरा । तह कउन ठाकुरु कउनु कहीऐ चेरा ।
बिसमन बिसम रहे बिसमाद । नानक अपनी गति जानहु आपि ॥ 5 ॥

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 1-11, पृष्ठ 276
2 वही, महला 5, पद 2, पृष्ठ 290-91

जह अछल अछेद अभेद समाइआ । ऊहा किसहि बिआपत माइआ ।
आपस कहु आपि आदेसु । तिहु गुण का नाही परवेसु । "[1]

यही निर्गुण ब्रह्म जब व्यक्त अवस्था में व्यक्त होने की इच्छा करता है तो सृष्टि की रचना होती है । व्यक्त अवस्था चेतनता का वह स्वरूप है जिसमें साधारण मानसिक विचारों का अभाव होता है । इस अवस्था में ज्ञान-ध्यान, संवेदन, दुख-सुख, इच्छा, वासना का लेश मात्र भी आभास नहीं होता, केवल चेतनता होती है । जागृत-स्वप्न, सुषुप्ति मन की अवस्थाएँ हैं । यदि शुद्ध चेतनता में कोई अवस्था सुषुप्ति अवस्था हो तो व्यक्त ब्रह्म का स्वरूप होगा ।[2]

अतः स्पष्ट है कि गुरु अर्जुन देव को तथा अन्य गुरुओं को साख्यवादियों के सिद्धान्त मान्य नहीं हैं, ये परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता तथा कारण मानते हैं । डा. जयराम मिश्र के शब्दों में — "सिख-गुरु परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता और कारण मानते हैं । वे परमात्मा को सृष्टि का निमित और उपादान कारण मानते हैं । परमात्मा के अतिरिक्त उन्हें अन्य कारण स्वीकार नहीं । परमात्मा के अस्तित्व से ही सारी सृष्टि दृश्य रूप में प्रकट हुई ।"[3]

गुरु अर्जुनदेव की रचनाओं में अनेक स्थलों पर यह विचार वर्णित है कि सृष्टि प्रक्रिया का संचालन परमात्मा की आज्ञा से ही होता है —

" करन करावन करने जोगु । जो जोतिसु भावे सोइ होगु ।
खिन महि थापि उथापन हारा । अंतु नहीं किछु पारावारा ।
हुकमे साजि अजारि रचावे । हुकमे ऊचे हुकमि समावे ।
हुकमे ऊच नीच बिउहार । हुकमे अनिक रंग परकार "[4]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 21, पृष्ठ 291
2 डा. हेर सिंह : गुरमति दर्शन : पृष्ठ 238
3 श्री गुरुग्रंथ दर्शन, पृष्ठ 101
4 श्री गुरुग्रंथसाहिब, पद 11, पृष्ठ 276

संत-कवियों की यह भी मान्यता रही है कि यह समूची दृश्यमान सृष्टि परमात्मा का ही स्वरूप है । गुरू अर्जुनदेव ने इसी मान्यता का वर्णन इस रूप में किया है —

"तू पेडु साख तेरा पुसी । तू सूखमु होआ अथूली ।
तू जल निधि तू कैन बुदबुदा, बुधु बिनु अवर न बालीए जीउ ॥
तू सूतु मणीए भी तू हैं । तू गठी मेरु सिरी तू है ।
आदि मधि अंति इकु सोई । अवरु न कोई दिखालीए जीउ ।"[1]

अर्थात् तू (परमात्मा) पेड़ है और तेरा शाखाएँ (सृष्टि) तुझी में विकसित है । तू ही सूक्ष्म है और तू ही सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण किए हुए है । तू ही समुद्र है, तू ही उसका फेन और बुलबुला है । तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई पाया ही नहीं जाता । तू ही सूत है, और तू ही माला की गुरिया है । तू ही माला की गाँठ है और तू ही सुमेरू है । आदि, मध्य और अंत में तू ही व्याप्त है । तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा दिखायी ही नहीं पड़ता ।

सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में भारतीय-दर्शनों की अत्यन्त प्रचलित मान्यता यह है कि अपने क्रीड़ा, विलास के लिए ही परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति करता है । गुरु अर्जुनदेव ने भी कहा है कि परमात्मा सृष्टि की रचना क्रीड़ार्थ करता है और स्वयं ही उस क्रीड़ा का दर्शक भी है । जब वह अपने इस खेल को समेट लेता है तो अकेला रह जाता है —

"आपन खेल आप करि देखै खेलु संकोचै तउ नानक एकै ।"[2]

×× ×× ×× ××

"जा तिसु भावै ता स्रिसटी उपाइ आपने माणै तत समाइ ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 4-2 1, पृष्ठ 102

2 वही, महला 5, पद 21, पृष्ठ 292

3 वही, महला 5, पद 22, पृष्ठ 292

सृष्टि अनन्त और व्यापक है । गुरु अर्जुनदेव की मान्यता है कि सृष्टि की रचना और इसका विस्तार अनन्त बार हो चुका है, पर इसका रचयिता परमात्मा सदैव अपरिवर्तित रहता है, क्योंकि वह शाश्वत और परिवर्तनहीन है —

" कई बार पसरिओ पसार,
सदा सदा इकु एकंकार ।"[1]

वेदान्तियों की भाँति सिक्ख-गुरुओं ने सृष्टि को मिथ्या और भ्रमात्मक नहीं माना । वे इसे सत्य मानते हैं —

" आपि सति सति सभ धारी, आपे गुण आपे गुणकारी ।"[2]

×× ×× ××

" सति करमु जाकी रचना सति । मूलु सति, सति उतपति ।"[3]

×× ×× ××

" आपि सति कीआ सभु सतु, आपे जाने अपनी मिति गति ।"[4]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव ने भी सृष्टि रचना का वर्णन भारतीय दर्शनों की परम्परा के आधार पर ही किया है ।

सारांश

भारतीय साहित्य दार्शनिक विचारधाराओं से अनादिकाल से ही आबद्ध रहा है । यह परम्परा आज भी विद्यमान है । अन्य सन्त कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव के काव्य में भी इस विचारधारा की प्रधानता है । गुरु अर्जुनदेव मूलतः निर्गुण और निराकार ब्रह्म के उपासक हैं, किन्तु भक्ति भावना के कारण सगुण और साकार ब्रह्म की झलक भी इनके काव्य में मिलती है, फलतः इन्होंने ब्रह्म

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 7–10, पृष्ठ 1056
2 वही, महला 5, पद 17, पृष्ठ 285
3 वही, महला 5, पद 16, पृष्ठ 284
4 वही, महला 5, पद 16, पृष्ठ 284

के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों का ही वर्णन किया है । अव्यक्त रूप के अन्तर्गत इन्होंने ब्रह्म के एकमेव ब्रह्म, सत्य रूप ब्रह्म, ज्योति रूप ब्रह्म, अनिर्वचनीय तत्वरूप ब्रह्म और रसानन्द रूप ब्रह्म का, तथा व्यक्त रूप के अन्तर्गत माता पिता भाव सम्बन्ध, सेव्य सेवक भाव सम्बन्ध, सख्य भाव सम्बन्ध, दाता भिखारी भाव सम्बन्ध और दाम्पत्य भाव सम्बन्ध का विशेष रूप से वर्णन किया है ।

भारतीय दर्शनों में जीव और आत्मा में जो अंतर स्थापित किया गया है उसका मूल आधार अविद्या है, अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को जीव और शुद्ध जीव को आत्मा कहा गया है । संत-साहित्य में इस पार्थक्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, इसीलिए इनका वर्णन कहीं आत्मा के रूप में जीव का और जीव के रूप में आत्मा का हो गया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी संत परम्परा के अनुसार जीव और आत्मा को अभिन्न मानकर ही इसका वर्णन किया है । जीव और ब्रह्म का अंशांशी सम्बन्ध मानते हुए भी जीव अथवा आत्मा के मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं, जीव जिन सांसारिक विकारों के वशीभूत होकर दुख भोगता है और जिन साधनों से जीवनमुक्त होकर तदाकारता को प्राप्त होता है इन सभी का गुरु अर्जुनदेव ने विस्तार से वर्णन किया है । यह समूचा वर्णन परम्परागत ही है ।

संत कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी माया को साधना का प्रमुखतम बाधक तत्व मानते हुए भी इसके अनेक रूपों का वर्णन किया है । इस विषय में इनकी प्रमुख विचार सरणियाँ ये हैं — माया की स्वतंत्र सत्ता नहीं, यह परमात्मा की ही सृष्टि है, माया परमात्मा के वशीभूत रहती है ; माया त्रिगुणात्मक है । माया की शक्ति असीम है और माया अज्ञान आदि की जननी है । माया का यह स्वरूप भारतीय दर्शनों द्वारा प्रतिपादित और सभी संत कवियों द्वारा अपनाया हुआ है ।

दर्शन-शास्त्रियों में सृष्टि रचना का प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा है । किन्तु सभी दर्शनकारों ने ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता माना है और सृष्टि को उसका

प्रतिबिम्ब । गुरु अर्जुनदेव ने भी सृष्टि रचना का वर्णन करते समय भारतीय दार्शनिक परम्परा का ही अनुकरण किया है अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है । और यह समूची दृश्यमान सृष्टि ब्रह्म का ही स्वरूप है जो उसने अपने क्रीड़ा विलास के लिए बनाई है ।

×××××
×××
×

तृतीय अध्याय

वर्धित भावना

भक्ति भावना

मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य की प्राप्ति है । इस सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए दो मुख्य मार्ग हैं — निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्ग । निवृत्ति मार्ग का अर्थ है — प्रतिकूल प्रवृत्तियों की निवृत्ति करके, विवेक द्वारा अनात्म का त्याग करके, भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करना और उसका साक्षात्कार करना । इस मार्ग के दो भेद हैं — योग-मार्ग और ज्ञान-मार्ग । विषयों से चित्तवृत्ति का निरोध करके ईश्वर में संगमन करना योग-मार्ग और विवेक द्वारा आत्म-अनात्म का भेदीकरण ज्ञान-मार्ग है । प्रवृत्ति-मार्ग का अर्थ है — शरीर की स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान् को प्राप्त करना, अर्थात् सभी सांसारिक विषयों को भगवदर्पण कर देना । इसके कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग नामक दो भेद हैं । इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के चार मार्ग हुए — योग-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग । इन मार्गों में भक्ति-मार्ग को ही सुलभ बताया गया है —

" अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ।"[1]

अपने इसी सौलभ्य गुण के कारण भक्ति-मार्ग सहज ही मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की महिमा का प्रतिपादन

---

1 भक्ति-सूत्र, सूत्र 58

करते हुए लिखा है कि, "नियमों से निराश होकर, कर्मवाद की कठोरता से घबड़ाकर, परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य हृदय की खोज में लगा और अंत में भक्ति-मार्ग में जाकर इस परोक्ष हृदय को उसने पाया।" संतों ने भी ज्ञान-मार्ग के साथ-साथ सौलभ्य तथा आवश्यकता के कारण भक्ति-मार्ग को भी अपनाया। कहीं-कहीं योग-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को अधिक महत्व भी दिया। गुरू नानकदेव जी ने भक्ति-भावना से रहित हृदय-हीन योगियों की निन्दा भी की है।[1] डा. गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में —

> "इसमें कोई शंका नहीं, कि उस समय का भक्ति-मार्ग स्वयं भी वैसी उपासना के आडंबरों के कारण बिगड़ता जा रहा था, पर फिर भी दूसरे साधनों से यह सहज और स्वाभाविक भी प्रतीत होता था।"[2]

भक्ति के लक्षण

'भक्ति' शब्द 'भज् सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका अर्थ होता है सेवा का प्रकार। भगवान् की सेवा के अनेक प्रकार हैं, अतः भक्ति के भी अनेक लक्षण किए गए हैं। 'शांडिल्य-भक्तिसूत्र में भगवान् के प्रति परम अनुरक्ति को भक्ति बताया गया है —

> "सा परानुरक्तिरीश्वरे "[3]

नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार, भक्ति परमप्रेम रूपा और अमृत-स्वरूपा है जिसे प्राप्त करने से मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है —

---

1 मुदा संतोख सरमपतु होती /// विआन को करहि बिभूति।
बिंदा कत कुआरी काया जुगति डंडा परतीति।
—— महला 1, जपुजी साहिब

2 डा. गोविन्द त्रिगुणायत : हिन्दी-निर्गुणकाव्य, पृष्ठ 546

3 शाण्डिल्य सूत्र, भक्ति-चन्द्रिका, पृष्ठ 5

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च । यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।"[1]

पाराशर पूजा आदि में अनुराग और गर्ग कथा आदि में अनुरक्ति को भक्ति मानते हैं —

"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः । कथादिष्विति गर्गः ।"[2]

भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है —

"सर्वे पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥"

अर्थात् मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार का कामना न हो और जो नित्य-निरंतर बनी रहे । ऐसी भक्ति से हृदय आनंद-स्वरूप भगवान् को प्राप्त करके अपार सुख का अनुभव करता है ।

इन लक्षणों का सार यही है कि भक्ति वह भाव-दशा है, जो मनुष्य को भगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित होने के लिए प्रेरित करती है । भक्ति के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं – वैधी भक्ति और प्रेमा भक्ति । वैधी भक्ति विधि-विधानों से इतनी भरी रहती है कि इसमें अनेक प्रकार की जटिलताएँ आ जाती हैं । इसीलिए कोई भी साधक निर्दोष वैधी भक्ति करने में सक्षम नहीं हो पाता । यही कारण है कि यह भक्ति सिद्ध रूप न मानी जाकर साध्य रूप मानी गई है । इसीलिए गुरुओं ने इस भक्ति का खंडन किया है । इन्होंने तिलक, माला, आसन, पादुका, प्रतिमापूजन पंचामृत, वस्त्र, यज्ञोपवीत, पुष्प, चन्दन, नैवेद्य, ताम्बूल, धूप, दीप,

---

1 भक्तिसूत्र, सूत्र 2 से 4

2 भक्तिसूत्र, सूत्र 16 से 17

आदि की निःसारता का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है ।[1] गुरु अर्जुनदेव ने भी अनेक स्थानों पर बाह्याडंबरों का विरोध करते हुए देवी भक्ति के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त की है । यथा —

(क) " कोटि मजन कीनो इसनान । लाख अरब खरब दीनों दानु ।
जा मनि वसिओ हरि को नामु ।
सगल पवित्त गुन गाइ गुपाल । पाप मिटाइ साधु सरनि दइआल ।
बहुत उरध तप साधन साधे । अनिक लाभ मनोरथ लाधे ।
हरि हरि नाम रसन अराधे ।
सिमृति सासत वेद बखाने । जोग गिआन सिध सुख जाने ।
नाम जपत इन सिउ मन माने ।"[2]

---

1 (क) पढ़ि पुस्तक संधिआ बादं । सिल पूजसि बगुल समाधं ॥
मुखि झूठ बिभूखण सारं । त्रैपाल तिहाल बिचारं ॥
गलि माला तिलक लिलाटं । दुइ धोती बसत्र कपाटं ॥
जे जाणसि ब्रह्म करमं । सभि फोकट निसचउ करमं ॥
— श्री गुरुग्रंथसाहिब, रामकली की वार महला 1, पृ. 470

(ख) पाखंडि भगति न होवई पारब्रह्मु न पाइआ जाइ ॥
— श्री गुरुग्रंथ साहिब, मलार की वार महला 3, पृष्ठ 849

(ग) इउमै भगति करे सभु कोई ।
ना मनु भीजै न सुख होई ॥
कोटि कोटि लख आव जावए ।
बिरथी भगति सभु जनम गवाए ॥
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 3 पृष्ठ 1278

2 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4—111, पृष्ठ 202

जो व्यक्ति प्रभु का नाम अपने हृदय में बसा लेता है, उसे तीर्थ-स्नान और दान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि प्रभु का नाम ही करोड़ों तीर्थों का स्नान और लाखों-अरबों के दान के समान है । प्रभु के नाम-स्मरण से तथा साधु-संगति में रहने से ही मनुष्य का मन पवित्र होता है । नाम-स्मरण करने से अनेक प्रकार के तप की साधना नहीं करनी पड़ती, केवल नाम-स्मरण से ही मनुष्य के सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं । जो मनुष्य नाम-स्मरण करता है वह स्मृति, शास्त्र तथा सभी वेदों का ज्ञाता हो जाता है, और योग की सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है —

" पूजा बरत तिलक इसनान पुन दान बहु दैन ।
कहु न भीजै संजम सुआमी बोलहि मीठे बैन ।
प्रभ जी को नाम जपत मन चैन ।
बहु प्रकार खोजहि सभि तारउ बिबमुन जाई लैन ।
जाप ताप ग्रभन बसुधा करि उरध ताप से गैन ।
इह बिधि न पति आनी ठाकुर जोग जुगति करि जैन ।
अमृत नाम निरमोलकु हरि जसु लिनि पाइओ जिस किरपैन ।
साध संगि रंगि प्रभ भेटे नानक सुखि जन रैन ॥ "[1]

पूजा, व्रत, तिलक और अनेक प्रकार के तीर्थों का स्नान तथा दान करने से, प्रभु प्रसन्न नहीं होता और न मन को शान्ति ही मिलती है । प्रभु का नाम ही एक ऐसा पदार्थ है जिसके द्वारा भक्त प्रभु को ढूंढ लेता है । यदि कोई व्यक्ति जप, तप आदि द्वारा शरीर को अनेक कष्ट देकर प्रभु को प्रसन्न करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता । जिस मनुष्य पर प्रभु की कृपा-दृष्टि होती है, उसे नाम-रूपी अमूल्य पदार्थ की प्राप्ति होती है ।

डा. मुंशीराम शर्मा ने रागात्मिका भक्ति का समर्थन और वैधी भक्ति का खंडन करते हुए लिखा है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, वार 3-13, पृष्ठ 674

"भाव-भक्ति हृदय-प्रसूत होती है । पूजा के आडम्बर में मन का लगना आवश्यक नहीं है । विधि-विधान एक नियमित अभ्यास चाहते हैं । हृदय की भावभूमि से उनका स्पर्श हो भी सकता है, और नहीं भी । अधिकतर यही देखा गया है, कि नियम सर्वप्रथम बुद्धि से आविर्भूत होता है, तदुपरान्त वह बुद्धि से भी असंयुक्त हो जाता है और गतानुगतिकत्व का रूप धारण कर लेता है ।"[1]

प्रेमा भक्ति

प्रेमा भक्ति में वैधी भक्ति की भाँति विधि विधानों की जटिलता नहीं होती, वरन् सहज भावनाओं की सरलता एवं सरसता होती है । इसीलिए यह भक्ति अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य और समादृत हुई है । भागवत में योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग की अपेक्षा प्रेमा भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है ।[2] यही प्रेम पराभक्ति, अहैतुकी निर्गुण भक्ति और ज्ञानी की भक्ति आदि संज्ञाओं से अभिहित की गई है । भागवतकार ने इस भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसमें भक्त की चित्तवृत्ति और कर्मगति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भगवान् की ओर बहता रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ ईश्वरोन्मुख ही होती हैं ।"[3] गीता में उस भक्त के लक्षण भी बताए गए हैं जिसे पराभक्ति की प्राप्ति होती है — "जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धि से युक्त एकांत सेवी और मिताहारी बनकर वाणी को जीतकर और वैराग्य को धारण करके निरंतर ध्यान-परायण दृढ़ धारण से अन्तःकरण को वश में करके शब्द, स्पर्श आदि विषयों को त्याग, राग-द्वेष को नष्ट कर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर ममता-रहित और शान्त हो जाता है तभी वह ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य होता है । फिर ब्रह्म-भूत होकर सदा प्रसन्न चित रहने वाला वह न किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी वस्तु के लिए आकांक्षा ही करता है । सब प्राणियों से सम-भाव से केवल भगवान् ही

---

1 भक्ति का विकास, पृष्ठ 472
2 भागवत, 11-14 20 तथा 21
3 भागवत, 3-29 11 तथा 12

देखता है । तब उसे मेरी (ईश्वर की) परा भक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह मुझे (ईश्वर को) तत्व से जानकर मुझ ही में (ईश्वर में) मिल जाता है ।"

प्रेमा भक्ति में प्रेम-तत्व का प्राधान्य होता है । नारद-भक्तिसूत्र में इस प्रेमतत्व को अनुभवैकगम्य माना गया है । प्रेम वाणी का विषय नहीं है, वरन् मूकास्वादनवत् अनिवर्चनीय है । यह पहले तो विषयजन्य होता है, गुणों के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु बाद में भावात्मक तथा निरपेक्ष बन जाता है —

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् प्रकाशते क्वापि पात्रे ।
गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥"[1]

इस ग्रन्थ में प्रेमा भक्ति का इतना अधिक विवेचन है कि इसको प्रेम-दर्शन भी कहा जाता है । इसमें बताया गया है कि प्रेमा भक्ति के द्वारा ही मनुष्य सिद्धि, अमरता, तृप्ति, निश्चिंतता आदि प्राप्त कर लेता है ।[2] इसमें प्रेमा भक्ति से सम्बद्ध ग्यारह आसक्तियाँ मानी गई हैं । गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति, और आत्मनिवेदनासक्ति ।[3] गुरु अर्जुनदेव की भक्ति-भावना में ये सभी आसक्तियाँ मिलती हैं । अतः इसी आधार पर इनकी भक्ति-भावना का विवेचन करना उपयुक्त होगा ।

---

1 भक्तिसूत्र, सूत्र 51 से 54

2 नारद-भक्तिसूत्र,
— सूत्र 4

3 "गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति ।
दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति तन्मयतासक्ति ।
परमविरहासक्ति रूपा एकादशधाधा भवति ॥"
— भक्तिसूत्र, सूत्र 82

गुणमहात्म्यासक्ति

भक्ति के क्षेत्र में साधना के जिन विविध मार्गों का उल्लेख किया जाता है, उनमें से एक मार्ग परमात्मा के गुण और महात्म्य का वर्णन भी है । इसे ही गुणमहात्म्यासक्ति कहा गया है । भक्त भगवान् के विविध गुणों का वर्णन करके उसके प्रति अपनी आसक्ति प्रकट करता है । गुरु अर्जुनदेव ने भी इसका पालन किया है । इन्होंने परमात्मा के अनेक गुणों का वर्णन किया है । यथा —

" दुख भुख न बिआपई मे सुख दाता मनि होइ ।
कित डी कमि न डिगीऐ जा करवै सचा सोइ ।
जिस तू रखहि हथ दे तिसु मारि न सकै कोइ ।"[1]

इसमें भगवान के रक्षक भाव का वर्णन है । वस्तुतः भक्त के अपने आराध्य के प्रति गहन आस्था होती है । वह मानता है कि उसका स्वामी अत्यन्त दयालु और सबका रक्षक है । वही मिट्टी को रत्न-रूप देने वाला, गर्भ में भी रक्षा करने वाला और शोभा-सम्पन्नता प्रदान करने वाला है ।[2] ऐसे प्रभु का दरबार सबसे ऊँचा है । यही सब भक्तों का आधार, सर्वव्यापक और अतुल शोभा-सम्पन्न है । इसी के स्मरण से दुःख और मृत्यु से मुक्ति मिलती है । इसी के स्मरण से सूखे हरे हो जाते हैं और पत्थर पानी पर तैरने लगते हैं —

" सभ ते ऊचा जा का दरबारु । सगल भगत जाका नामु अधारु ।
सरब बिआपित पूरन धनी । जाकी सोभा घटि घटि बनी ।
जिसु सिमरत दुख डेरा ढहै । जिसु सिमरत जम किछु न कहै ।
जिसु सिमरत होत सूके हरे । जिसु सिमरत दुसत पाहन तरे ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 43

2 वही, महला 5, पद 4-6, पृष्ठ 177

3 वही, महला 5, पद 4-21, पृष्ठ 182

परमात्मा शक्ति-सम्पन्न, सुख-सागर, दीनानाथ और करुणामय है । वह साजन, मित्र, पिता तथा माता की भाँति अपने भक्तों की रक्षा करता है और उन्हें भवसागर से पार उतारता है ।[1]

परमात्मा की भक्त-वत्सलता का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से सभी भारतीय भक्तों ने किया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी परमात्मा के इस गुण का अनेक छंदों में उल्लेख किया है —

"साचा साहिबु अमिति वडाई भगति वछल बहजाला ।
संता की पैज रखदा आइआ आदि बिरदु प्रतिपाला ॥"[2]

हे भाई ! युग-युगों तक स्थिर रहने वाले प्रभु की महानता का वर्णन नहीं किया जा सकता । वह दया स्रोत है, उसे भक्ति प्रिय है और सदैव अपने भक्तों की रक्षा करता है ।

यही भक्तवत्सल परमात्मा अपने भक्तों के सांसारिक दुखों का नाश करने वाला और उनके कोटि अपराधों को क्षण में ही मिटा देने वाला है । जिस भक्त का ऐसे भक्तवत्सल परमात्मा से मन लग जाता है, वह उसकी कृपा से काम, क्रोध आदि पाँचों रिपुओं से छूट जाता है —

"भव खंडन दुख भंजन सुआमी भगति वछल निरंकारे ।
कोटि पराध मिटे खिन भीतरि जां गुरमुखि नामु समारे ।
मेरा मनु लागा है राम पिआरे ।
दीन दइआलि करी प्रभ किरपा बसि कीने पंच दूतारे ॥"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 203, पृष्ठ 209

2 वही, महला 5, पद 4-11, पृष्ठ 611

3 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 670

भक्तवत्सल प्रभु अपने भक्तों के सभी प्रकार के भय दूर करता है और उनको संसार-रूपी सागर से पार कर देता है, क्योंकि पतितों का उद्धार करना तो उसकी पुरानी आदत हो चुकी है —

"मेलि लेहु दइआल हरि पाइ दुआरिआ ।
राखि लेवहु दीन दइआल भ्रमत बहु हारिआ ।
भगति वछलु तेरा बिरदु हरि पतित उधारिआ ।"[1]

परमात्मा सबसे विलक्षण है । इसकी विलक्षणता का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने करते हुए बताया है कि मैंने अन्य सभी स्वादों को चखा है, किन्तु हरि-रस का स्वाद सबसे मीठा है, अतएव इसकी विलक्षणता को वही जान सकता है, जिसने इसका आस्वादन किया है :—

"अवरि साद चखि सगले देखे मन हरि रसु सभ ते मीठा जीउ ।"[2]

xx xx xx xx

"कीअउ न जाइ रहु अलभउ सो जाने जिनि चाखिआ ।"[3]

परमात्मा का स्थान सबसे ऊंचा है । ढूंढने पर भी इसके समान कोई नहीं है । यह अनंत, अथाह और अतुलनीय है —

"मै पेखिओ री ऊंचा मोहनु सभते ऊचा ।
आन न समसरि कोऊ लागै ढूंढि रहे हम मूचा ।
बहु बेअंत अति बडो गाहरो थाह नहीं अगहूचा ।
तोलि न तुलीऐ मोलि न भुलीऐ कत पाईऐ मन रूचा ।"[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 609
2 वही, महला 5, पद 4-15, पृष्ठ 100
3 वही, महला 5, पद 4-3-161, पृष्ठ 215
4 वही, महला 5, पद 2-1-32, पृष्ठ 534

इसी कारण इसका दरबार सबसे ऊंचा और अनंत है । लाखों भक्त इसकी आराधना करते हैं, लाखों तपस्वी इसे प्राप्त करने के लिए तप करते हैं, लाखों योगीश्वर इसके लिए योग-साधना करते हैं, लाखों भोगी भोग भोगते हैं, फिर भी कोई इसके रहस्य को नहीं जान पाता —

"अति ऊचा ताका दरबारा । अंतु नाही किछु पारावारा ।
कोटि कोटि कोटि तप थाके । इकु तिलु ताका महलु न पावै ।
सुहावी कउणु सु वेला जितु प्रभ मेला ।
लाख भगत जाकउ आराधहि । लाख तपीसर तपु ही साधहि ।
लाख जोगीसर करते जोगा । लाख भोगीसर भोगहि भोगा ।
घटि घटि वसहि जाणहि पीरा । है कोई साजणु परदा तोरा ।"[1]

इसी विलक्षणता का संकेत गुरु अर्जुनदेव ने परमात्मा को कार्य-कारण मानते हुए किया है —

"प्रभ करण कारण समराथा । हरि सिमरत सभु दुखु लाथा ।"[2]

xx xx xx xx

"सुनहु विनती ठाकुर मेरे जीअ जंत तेरे धारे ।
राखु पैज नाम अपुने की करन करावन हारे ।"[3]

गुरु अर्जुनदेव ने परमात्मा की सर्वव्यापकता का भी अनेक पदों में वर्णन किया है । इन्होंने परमात्मा को "सरब विआपित", "घटि घटि बनी" होना[4] और "अंतरजामी"[5] बताते हुए कहा है कि वह समस्त प्रकृति में इसी प्रकार समाया हुआ है जिस प्रकार सभी फूलों में अग्नि और वृक्ष में घी निहित होता है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 562
2 वडी, महला 5, पद 2-11-75, पृष्ठ 627
3 वडी, महला 5, पद 2-29-93, पृष्ठ 631
4 वडी, महला 5, पद 4-21, पृष्ठ 188
5 वडी, महला 5, पद 4-66, पृष्ठ 193

निम्नलिखित पद में इन्होंने परमात्मा की सर्वव्यापकता का तर्क-संगत एवं प्रभावशाली वर्णन किया है :—

"सगल वनसपति महि वैसंतरु सगल दूध महि घीआ ।
ऊच नीच महि जोत समाणी घटि घटि माधउ जीआ ।
सतहु घटि घटि रविआ समाहिओ ।
पूरन पूरि रहिओ सरब महि जलि थलि रमईआ आहिओ ।
गुण निधान नानकु जसु गावै सतिगुरि भरम चुकाइओ ।
सरब निवासी सदा अलेपा सभ महि रहिआ समाइओ ।"[1]

इसी प्रकार गुरु अर्जुनदेव ने अनेक अन्य पदों में भी परमात्मा की सर्व-व्यापकता का वर्णन किया है ।[2]

इन्होंने परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता का भी विस्तार से वर्णन किया है । इन्होंने बताया है कि परमात्मा ही सब का कर्त्ता है, सर्वप्रकार समर्थ और अपने भक्तों की टेक रखने वाला है —

"तुं करता तुं करणहारु तूं है एकु अनेक जीउ ।
तुं समरथु तू सरब मै तू है बुद्धि विवेक जीउ ।
नानक नामु सदा जपी भगत जना की टेक जीउ ।"[3]

और संसार की प्रत्येक क्रिया का संचालन इसी के द्वारा होता है —

"सभु करता सभु भुगता ।
सुनतो करता पेखत करता । अदृसटो करता दृसटो करता ।
ओपति करता परलउ करता । बिआपत करता अलिपतो करता ।
बकतो करता बुझत करता । आवतु करता जातु भी करता ।

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-1-29, पृष्ठ 617
2 वही, महला 5, पृष्ठ 777, 780, 782 आदि
3 वही, महला 5, पृष्ठ 707

निरगुन करता सरगुन करता । गुर प्रसादि नानक समदृसटा ।"[1]

इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव ने परमात्मा के अनेक गुणों का वर्णन किया है ।

रूपासक्ति

भक्ति के क्षेत्र में परमात्मा का साकार रूप ही ग्रहण किया गया है, इसलिए उसके रूप में भक्त की आसक्ति को भी भक्ति का एक अंग माना गया है । संत-कवियों की भक्ति निर्गुण विचारधारा से प्रभावित है, परन्तु उन्होंने भगवान् के रूप के वैसे चित्रण नहीं किए, जैसे सगुण धारा के भक्त-कवियों में मिलते हैं । उन्होंने भगवान के रूप या गुण का केवल उल्लेख किया है । गुरु अर्जुनदेव के भी ऐसे ही पद मिलते हैं । यथा —

"अमृता प्रिअ वचन तुहारे ।
अति सुंदर मन मोहन पिआरे सभ ह मधि निरारे ।
राजु न चाहउ मुकति न चाहउ मनि प्रीति चरन कमलारे ।
ब्रह्म महेस सिध मुनि इंद्रा मोहि ठाकुर ही दरसारे ।"[2]

इस वर्णन से स्पष्ट है कि परमात्मा का रूप अत्यन्त सुन्दर है । तभी तो भक्त राज्य और मुक्ति की कामनाओं को छोड़कर उनके चरण-कमलों की ही इच्छा करता है, और तभी उसे देखते ही ब्रह्मा, महेश, सिद्ध, इन्द्र इत्यादि उसके रूप-सौंदर्य पर विमुग्ध हो जाते हैं । निम्नलिखित पदों में भी परमात्मा के रूप-सौंदर्य का संकेत है —

"अति प्रीतम मन मोहना घट सोहना प्रान अधारा राम ।
सुंदर सोभा लाल गोपाल दइआल की अपर अपारा राम ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-1, पृष्ठ 862
2 वडी, महला 5, पद 2-3-29, पृष्ठ 534
3 वडी, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 542

अर्थात् प्रियतम परमात्मा मन को मोहने वाला, घट-घट की शोभा बढ़ाने वाला, सबके प्राणों का आधार, सुंदर शोभा से सम्पन्न और परम दयालु है । निम्नलिखित पद में भी रूप-वर्णन है —

" इउ विसमु मई जी हरि दरसनु देखि अपारा ।
मेरा सुंदर सुआमी जी इउ धरन कमल पग धारा ।"[1]

इन्होंने परमात्मा के विराट स्वरूप का भी चित्रण किया है, जो रूपातीत का ही दूसरा रूप है । यथा —

" नाना रूप नाना जाके रंग । नाना भेख करहि इक रंग ।
नाना विधि कियो विसथारु । प्रभु अविनासी एकंकारु ।
नाना चलित करै खिनमाहिं । पूरि रहिओ पूरन सब ठाइं ॥"[2]

अर्थात् परमात्मा के अनेक रूप, अनेक वर्ण और एक ही प्रकार के अनेक वेश हैं । परमात्मा अपने इन गुणों का नाना प्रकार से विस्तार करता है । यह प्रभु अविनाशी तथा एकंकार है । यह क्षण भरत में ही विविध कार्यों को करने में समर्थ है । यह सर्वत्र व्यापक है । यह अनंत, अविगत, अगोचर भी है —

" तू बेअंतु अविगतु अगोचरु, इहु सभ तेरा अकारु ॥"[3]

संत-कवि मुलतः ज्ञानमार्गी और निर्गुणोपासक हैं, अतः इनकी रूपातीत में परमात्मा के उन विविध तथा मनोहारी रूपों का सांगोपांग वर्णन नहीं मिलता, जो कृष्णभक्त-कवियों में मिलता है । परमात्मा के रूप की अपेक्षा ये संत उसके गुणों से अधिक परिचित थे, अतः इनकी रूपातीत में भी परमात्मा के गुणों का ही अधिक होना स्वाभाविक है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-11, पृष्ठ 784

2 वही, महला 5, पद 5, पृष्ठ 284

3 वही, महला 5, पद 4-36, पृष्ठ 379

पूजा-भक्ति

पूजा भी भगवद्-भक्ति का प्रमुख अंग है । जिस प्रकार भगवान् के सगुण और निर्गुण दो रूप हैं, उसी प्रकार इनकी पूजा भी दो विधियों से की जाती है । सगुण की पूजा के लिए धूप, दीप, नैवेद्य आदि का प्रयोग किया जाता है । यह स्थूल पूजा कही जा सकती है । इसके विपरीत, पूजा-सामग्री का परित्याग करके केवल मन से परमात्मा के गुण आदि का स्मरण सूक्ष्म या भावात्मक पूजा कही जा सकती है । संत-कवियों को सिद्धान्ततः परमात्मा का निर्गुण रूप ही स्वीकार्य रहा है । यदि इन्होंने कहीं पूजा-सामग्री के कुछ पदार्थों का उल्लेख कर भी दिया है, तो वह उल्लेखमात्र ही है, क्योंकि इनकी पूजा निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपार आसक्ति को ही व्यक्त करती है ।[1] गुरु नानकदेव ने परमात्मा की पूजा का विधान करते हुए लिखा है :—

"गगन में थालु-रवि चंदु दीपक बने, तारिका मंडल जनक मोती ।
धूपु मलआनलो, पवणु चवरो करे, सगल बनराइ फूलन्त जोती ।
कैसी आरती होइ । भवखंडना तेरी आरती ।
अनहता सबद वाजंत भेरी ।"[2]

अर्थात् हे परमात्मा ! आकाश-रूपी थाल में सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे दीपक के समान बने हुए हैं । मलयाचल की सुगन्ध ही तुम्हारी आरती की धूप है । वायु चँवर कर रहा है । वनों के सारे पुष्प तुम्हारी आरती के निमित्त पुष्प बने हुए हैं । तुम्हारी आरती (सीमित आरती) कैसे हो सकती है ? हे भवखंडन ! तुम्हारी आरती कैसे हो सकती है ?

---

1 धूप दीप सेवा गोपाल । अनिकबार वंदन करतार ।
प्रभ की सरणि गही सभ तिआगि । गुर सुप्रसंग भए वडभागि ।
अठ पहर गाईऐ गोविंदु । तनु धनु प्रभ का प्रभ की जिंदु ।
हरि गुण रमत भए आनंद । पारब्रह्म पूरन बखसंद ।
कहि किरपा जन सेवा लाए । जनम मरण दुखमेटि मिलाए ।"4 ॥ 12॥ 14 ॥
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 866

2 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 13

इस कथन से स्पष्ट है कि संत-कवियों की पूजा-पद्धति या आरती स्थूल न होकर भावात्मक, और सीमित न होकर असीमित है । इनका परमात्मा भी विराट रूप धारी है । अतः अन्य शैव-गुरुओं की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी अपने प्रभु की सूक्ष्म आराधना ही की है । पूजा के उपकरणों के अन्तर्गत इन्होंने चरण-वन्दना और कीर्तन का विशेष रूप से वर्णन किया है । हरि-चरणों की महिमा का वर्णन करते हुए इन्होंने बताया है कि इन चरणों में जिसका मन लग जाता है, वह दुःख, दर्द और भ्रम से छूट जाता है । हरि-चरणों का ध्यान करते ही सभी प्रकार के क्लेश समाप्त हो जाते हैं तथा सर्व तीर्थों के स्नान का फल मिल जाता है । हरि के चरण-कमल सारे संसार के कष्टों को दूर करने वाले हैं —

"हरि चरनी जा का मनु लागा । दुखु दरदु भ्रमु ताका भागा ।"

xx xx xx xx

"हरि सिमरत सभि मिटहि कलेस । चरण कमल मन महि परवेस ।"

xx xx xx xx

"ब्रह्म के चरन मन महि बिजानु । सगल तीरथ मजन इसनानु ।"[1]

हरि-चरण ही संसार-सागर से पार उतारने के लिए नौका के समान हैं ।[2] इसलिए गुरु अर्जुनदेव ने हरि-चरणों के द्वारा ही नाम पदार्थ की सार्थकता मानी है —

---

1 (क) श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-74, पृष्ठ 194

(ख) वही, महला 5, पद 4-75, पृष्ठ 194

(ग) वही, महला 5, पद 4-77, पृष्ठ 195

2 (क) "तरण सागर बोहिथु चरण तुमारे तुम जानहु अपनी बाते ।"
— श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 809

(ख) "चरण ब्रह्म के बोहिथु धारि भव सागर पार पवाहि ।"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 824

" नाम पदारथु होई सकारथु । हिरदै चरन बसाहि ।"[1]

प्रभु के चरण ही सुख, आनंद तथा आत्मिक जीवन देने वाले हैं । उन चरण-कमलों का ध्यान करने से ही व्यक्ति प्रभु की सर्वव्यापकता को जानने योग्य होता है और उसे प्रत्येक स्थान पर प्रभु के दर्शन होने लगते हैं । ये चरण-कमल ही स्वर्ग हैं —

" सुख मंगल आनंद हरि हरिप्रभु चरन अमृत सारु ।"[2]

×× ×× ×× ××

" चरन कमल बिज्ञान भीतरि घटि घटाहि सुआमी सुआ ।"[3]

×× ×× ×× ××

" बैकुंठ गोबिंद चरण नित धिआउ ।"[4]

पूजा-पद्धति का दूसरा प्रमुख अंग है कीर्तन जब भक्त नृत्य और वाद्य के साथ अपने आराध्य के गुणों का वर्णन करके उसकी स्तुति करता है, तो इस विधि को कीर्तन कहते हैं । गुरु अर्जुनदेव ने कीर्तन के महत्व को भक्त के लिए स्वीकार किया है[5] और इसका आध्यात्मिक विश्लेषण इस प्रकार किया है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 3-6-46, पृष्ठ 407

2 वडी, महला 5, पद 2-4-12, पृष्ठ 1121

3 वडी, महला 5, पद 2-7-15, पृष्ठ 1122

4 वडी, महला 5, पद 2-62-85, पृष्ठ 1220

5 (क) सगल तत महि ततु गिआनु । सरब बिगान महि एकु बिआनु
हरि कीरतन महि उतम पुना । नानक गुर मिलि गाइ गुना ।
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-8,, पृष्ठ 1182

(ख) सफल जनमु ताका परवाणु । पारब्रह्मु निकटि करि जाणु ।
साध संगति प्रभ कीरतनि लागै । जनम जनम का सोइआ जागै ।
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-20-22, पृष्ठ 869

"कर करि ताल एकावजु नैनहु माचै वजहि रबाबा ।
करनहु मधु बासुरी बाजै जिहवा धुनि अमाजा ।
निरति करै करि मनुआ नाचै आगे धुवर साजा ।
राम को निरतकारी ।
ऐसे पेखनहारू वडआला जेता सापु सीगारी ।
आकार मंडली धरणि सबई उपरि गगनु वंदोआ ।
पवनु विचोलु करत इकेला जल ते ओपति होआ ।
पंच ततुकरि पुतरा कीना करित मिलावा होआ ।
चंदु सुरजु दुइ जरे चरागा वहु कुंट भीतरि रावे ।
इस पातउ पंच संगीता एकै भीतरि साचै ।
भिंन भिंन होइ भाव दिखावहि समहु निरारी भावै"।
धरि धरि निरति होवै दिनु राती घटि घटि वाजे तुरा ।
एक न चावहि इकि भवावहि इकि आइ जाइ होइ धुरा ।
कहु नानक सो बहुरि न नाचै जिसु गुरु भेटै पूरा ।"[1]

अर्थात् इस संसार में प्रभु की सृष्टि का नृत्य हो रहा है । प्रत्येक जीव के ललाट पर लिखे हुए लेख रबाब के समान बज रहे हैं और जीव के कानों में माया की मधुर बाँसुरी बज रही है, जीव की जीभ का स्वाद-राग हो रहा है । प्रत्येक मनुष्य का मन रबाब, बाँसुरी आदि इन साजों के साथ मनुष्य के हाथों को छैने बनाकर और आँखों को तबला बनाकर तथा पूर्वजन्म के संस्कारों को घुँघरू बनाकर सदैव नृत्य करता रहता है । इन जीवों के नृत्य करने के लिए पृथ्वी अखाड़ा बनी हुई है, जिसपर आकाश चँदोवे के समान तना हुआ है । ईश्वर ने पूर्वजन्म के कर्मानुसार ही जीव और पंच तत्वों से बने शरीर का मेल कराया है। चन्द्र और सूर्य दीपकों की भाँति जल कर चारों दिशाओं में प्रकाश को बिखेर किए हुए हैं । प्रत्येक शरीर को (मनुष्य के) दस इन्द्रियों तथा पाँच

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-7, पृष्ठ 884

कामादिक विकारों ने घेरा हुआ है और वे सभी अपनी इच्छानुसार मनुष्य को नचाते हैं। माया में भ्रमित जीव आवागमन के चक्कर में फँसे हुए हैं। माया के इस नृत्य-जाल से केवल वही व्यक्ति छूट सकता है, जो सच्चे गुरु की शरण में आ जाता है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव सीमित पूजा के रूप में अपनाए गए कीर्तन को धार्मिक आडम्बर मानते हैं। इनका विचार है कि जब तक आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती, जब तक मन परमात्मा के अनुराग में तन्मय नहीं हो जाता, तब तक ऐसे कीर्तन का कोई लाभ नहीं —

"बिनु बाजे कैसो नित्तकारी। बिनु कहे कैसे गावनहारी।
गीत बिना कैसे बजै रबाब। नाम बिना बिरथे सभि काज।"[1]

वस्तुतः गुरु अर्जुनदेव का कीर्तन से अभिप्राय परमात्मा के उन गुणों का सतत स्मरण करना है जिनसे मन, बुद्धि और हृदय की शुद्धि होती है। तब सद्गुणी जीव मोह-माया के बन्धन से छूट कर भगवदोन्मुख हो जाता है —

"सो किछु करि जितु मैलु न लागै।
हरि कीरतन महि ऐहु मनु जागै।"[2]

गुरु अर्जुनदेव ने कीर्तन के अन्तर्गत आने वाले परमात्मा के अनेक गुणों का वर्णन किया है। इन्होंने बताया है कि जिसपर परमात्मा की कृपा होती है, उसी की जिह्वा से उसका नाम निकलता है। परमात्मा को विस्मृत कर देने पर आत्मा सदैव अनेक प्रकार के दुःखों से घर जाती है और उसके स्मरण करने से भ्रम इत्यादि सभी भय नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जो व्यक्ति परमात्मा का कीर्तन सुनता है या गाता है, दुःख उसके निकट नहीं आते।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 5-6-19, पृष्ठ 1140

2 वही, महला 5, पद 4-96, पृष्ठ 199

हरि-कीर्तन करने से अर्थात् उसके गुणों का स्मरण करने से सहज सुख तथा अपार आनन्द की प्राप्ति होती है । इसलिए इन्होंने अपने मन को तथा सांसारिक आकर्षण में फँसे हुए मनुष्यों को प्रेरित किया है कि वे परमात्मा के संग विहार करें, उसी के गुणों का गान करें, क्योंकि वही प्राणों का आधार और सर्वव्यापक है —

"जा कउ अपनी किरपा धारै । सो जनु रसना नामु उचारै ।
हरि बिसरत सहसा दुखु बिआपै । सिमरत नामु बरमु नउ भागै ।
हरि कीरतनु सुनै हरि कीरतन गावै । तिस जन दुखु निकटि नही आवै ॥"[1]

×× ×× ×× ××

"सुख सहज आनदु घणा हरि कीरतु गाउ ।
गरह निवारै सतिगुरु दे अपणा नाउ ॥"[2]

×× ×× ××

"राम राम सँगि करि बिउहार, राम राम राम प्रान अधार ।
राम राम राम कीरतनु गाइ । रमत रामु सब रहिओ समाइ ॥"[3]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि गुरु अर्जुनदेव की पूजासंहिता उस पूजासंहिता से भिन्न है जो ब्रह्म के सगुण रूप को मानकर धूप-दीप आदि पूजा के उपकरणों से की जाती है । वस्तुतः जिस प्रकार इनकी भक्ति केवल भावात्मक है, उसी प्रकार इनकी पूजासंहिता भी भावात्मक होने के कारण सूक्ष्म है ।

स्मरणसंहिता

स्मरणसंहिता के अन्तर्गत परमात्मा के विविध नामों और गुणों का वर्णन होता है । मध्ययुगीन सभी संतों ने नाम-स्मरण के प्रति अपूर्व श्रद्धा व्यक्त की

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-52, पृष्ठ 190

2 वही, महला 5, पद 4-18-20, पृष्ठ 400

3 वही, महला 5, पद 4-8-10, पृष्ठ 865

है । नाम-माहात्म्य के विषय में निर्गुण तथा सगुण दोनों ही प्रकार के संत एकमत हैं । गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के बालकांड के प्रारंभ में नाम-महिमा का विस्तार से वर्णन किया है और कहा है कि राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मयसत्ता और अखण्डानन्त प्रेमवत्सल भगवान इन दोनों में नाम बड़ा है ।[1] नाम की महिमा का वर्णन स्वयं राम भी नहीं कर सकते ।[2] निर्गुण संत-कवियों का आराध्य असीम और अथाह है, जिसको किसी नाम के बंधन में नहीं बाँधा जा सकता, फिर भी उसका गुण-गान करने के लिए इन्होंने किसी न किसी नाम की कल्पना कर ली है । सिख-गुरुओं ने भी अपने प्रभु के नाम-स्मरण पर अत्यधिक बल दिया है । इन्होंने उसको जितने भी नाम दिए हैं, वे सभी उसके गुणों को व्यक्त करने वाले हैं । उसका सत्य का बोधक नाम केवल 'सतिनाम' है जिसका भाव है सर्वव्यापी ।[3] डा. सुरेन्द्र सिंह कोहली ने भी 'सति' को ही ब्रह्म का वास्तविक नाम स्वीकार किया है ।[4]

गुरु अर्जुनदेव ने नाम-स्मरण का विस्तार से वर्णन किया है । इन्होंने नाम के महत्व को बताते हुए कहा है कि समस्त जीव-खण्ड ब्रह्माण्ड, स्मृति, वेद, पुराण, श्रवण, ज्ञान, ध्यान, आकाश, पाताल, सारे दृश्यमान आकार नाम ही के द्वारा धारण किए गए हैं ।[5] नाम ही चारों वेदों का सार है —

---

1 ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि ।
राम चरित सत कोटि यहँ, लिय महेस जिय जानि ।
— रामचरितमानस, बालकांड

2 कहउँ कहौ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहि नाम गुन गाई ।
— रामचरितमानस, बालकांड

3 डा. जेरसिंह, गुरमत दर्शन, पृष्ठ 158

4 सिख धर्म, पृष्ठ 95

5 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 16, पृष्ठ 284

" चतुरथ वारे वेद सुणि सोधिओ तुतु विचारु ।
सरब धरम कलिआण निधि राम नामु जपि सारु ॥ "[1]

सभी आध्यात्मिक अन्वेषणों का अंत भी इसी ज्ञान में होता है कि राम का नाम ही तत्व और सार है । —

खोजत खोजत खोजि बीचारीओ रामु नामु ततु सारा ॥ "[2]

अनेक प्रकार के कठिन व्रत और साधनाएँ भी इसकी तुलना नहीं कर सकतीं । यह तो रत्न, जवाहर, सत्य, संतोष, ज्ञान, सुख, दया आदि का अक्षुण्ण भंडार है —

" सरीरु कटाइहीमे कीर राती । बरत नेम करे बहु भाती ।
नही तुल राम नाम बीचार । नानक गुरमुखि नामु जपीए इक बार ।"[3]

×× ×× ×× ××

" रतन जवेहर नाम । सतु संतोख गिआन ।
सुख सहज दइआ का पोता । हरि भगता हवाले होता ।
मेरे राम की भंडारु ।"[4]

गुरु अर्जुनदेव ने हरि-विमुख मनुष्य को प्रेरित करते हुए कहा है कि हे मनुष्य तू राम के इस नाम का जप कर जिससे जीव का उद्धार हो जाता है । समस्त द्वन्द्व और बन्धन छूट जाते हैं और मुँह चतुर हो जाते हैं । यह नाम भय तथा दुःखों का हरण करने वाला और आपदाओं को मिटाने वाला है । इसके प्रभाव से पापों का और संतापों का नाश होकर ज्ञान का प्रकाश मिलता है, ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और, अंततोगत्वा, मनुष्य भवसागर से

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4, पृष्ठ 297
2 वही, महला 5, पद 4-10, पृष्ठ 611
3 वही, महला 5, पद 3, पृष्ठ 265
4 वही, महला 5, पद 4-24-35, पृष्ठ 893

पार हो जाता है —

" राम नाम कउ नमसकार, जासु होवत उधार ।
जाके सिमरिन मिटहि कलेस । जाके सिमरनि छूटहि बंध ।
जाके सिमरनि मूरख बतुर । जाके सिमरनि कुलह उधर ।
जा के सिमरनि सगउ दुख टरै । जाके सिमरनि अपदा टरै ।
जा के सिमरिन मुचत तापा । जाके सिमरनि नहीं संताप ।
जा के सिमरनि हिरदै बिगास । जाके सिमरनि कमला दासि ।
जा के सिमरनि निधि निधान । जाके सिमरनि तरै निदान ।"[1]

वस्तुतः आराध्य का नाम ही आराधक का सर्वस्व है ।[2] यह उसके रोम-रोम में रमा होता है । यही उसका अमूल्य रत्न है, यही उसका अमर धन है, यही उसका हितकारी है और यही उसको चिंताओं से मुक्त कराने वाला है । यही उसका भोजन है और यही मन का स्वभाव है । इसी से समस्त साधना पूर्ण होती है —

" रोमि रोमि रविआ हरि नामु । सति गुर पूरै कीनो दानु ।
नाम रतनु मेरै भंडार । अगम अमोला अपर अपार ।
नामु हमारै निहचल धनी । नाम की महिमा सभ माहि बनी ।
नामु हमारै पूरा साहु । नामु हमारै वेपरवाहु ।
नामु हमारै भोजन भाउ । नामु हमारै मन का सुआउ ।
नामु न विसरै संत प्रसादि । नामु सैल अनहद पूरे नाद ।"[3]

जिस हृदय में राम का नाम विद्यमान होता है, वही महान् सम्राट् होता है, उसी के सारे कार्य पूर्ण होते हैं । वह अपार धन-प्राप्ति के समान

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 936

2 वही, महला 5, पद 4-22-35, पृष्ठ 1145

3 वही, महला 5, पद 4-70-30, पृष्ठ 1144

समृद्धिशाली होता है । जो व्यक्ति हरि का नाम नहीं लेता, उसका जन्म व्यर्थ है । जिसके पास भगवान का नाम-रूपी धन है, वही श्लाघ्य है, वही भाग्यशाली है । जिसपर गुरु का वरदहस्त है, जिसके हृदय में हरिनाम विद्यमान है उसकी शक्ति कोट-सम्पन्न अपार सेनाओं की शक्ति के समान है । राम-नाम धारण करने वाले को ही सहज सुख प्राप्त होता है, वही दुःखों से छूटकर आनन्दानुभव करता है । नाम का स्मरण न करने वाला जीव निंदनीय और मृत है । नाम-स्मरण करने वाला व्यक्ति ही जीवन-मुक्त, सभी युक्तियों से सम्पन्न और नव निधियों का स्वामी होता है । नाम के बिना भ्रम का निवारण नहीं होता । जिस व्यक्ति के हृदय में हरि-नाम है, वही निश्चिंत, सदृश लाभपूर्ण और विशाल परिवार वाला होता है । नाम के बिना मनुष्य अज्ञानांधकार से आछन्न रहता है । नाम के प्रताप से ही मन में निश्चलता, उच्चता एवं विश्वसनीयता आती है ।[1]

नाम-स्मरण से अनेक प्रकार के लाभों का उल्लेख भी गुरु अर्जुनदेव ने किया है । इनको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - सांसारिक फल और पारमार्थिक फल । इन्हें क्रमशः लौकिक और अलौकिक भी कहा जा सकता है ।

सांसारिक फल :- नाम-स्मरण से दुःख, पाप, भ्रम, और भय का नाश होता है । जिस व्यक्ति का आधार नाम होता है, उसे दुःख और संताप नहीं होते,[2] और जन्म-मरण के दुःख से उसे मुक्ति मिल जाती है ।[3] यह अमृत के समान जीवनदाता, सदा निर्मल, सुखदायी, दुःख नाशक और अन्य स्वादों से विलक्षण है —

"अमृत नाम सदा निरमलीआ । सुख दाई दुख विडारन हरीआ ।
अवरि साद सभि सगले फीके मन हरिरसु सभते मीठा जीउ ॥"[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-1-4, पृष्ठ 1155

2 वही, महला 5, पद 4-6, पृष्ठ 44

3 वही, महला 5, पद 4-12, पृष्ठ 46

4 वही, महला 5, पद 4-15, पृष्ठ 100

xx xx xx

" सिमरत सिमरत प्रभ का नाउ । सगल रोग का बिनसिआ थाउ ।"[1]

xx xx xx

" नामु जपत मिटहि पाप कोटि ।"[2]

हरि का नाम स्मरण करने से जन को सभी प्रकार के रोगों और विपत्तियों से छुटकारा मिल जाता है। उसका मन पवित्र हो जाता है और उसका अज्ञानांधकार भी नष्ट हो जाता है —

" सिमरत नामु कलिबिख सब नासे । सच नाम गुरि दीनी रासे ।"

xx xx xx

" हरि हरि नाम जपहु मेरे भाई ।
सगले रोग दोख सभि बिनसहि अगिआनु अंधेरा मन ते जाई ।"[3]

xx xx xx

" हरि हरि नामु जपहु मेरे मीत । निरमल होइ तुम्हारा चीत ।
मन तन की सभ मिटै बलाइ । दूखु अंधेरा सगला जाइ ।"[4]

जो व्यक्ति प्रभु के नाम का जाप करते हैं उनके सभी कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो जाते हैं, तथा उन्हें सम्मान की प्राप्ति होती है —

(क) " करम भूमि महि बोअहु नामु । पूरन होइ तुमारा कामु ।"[5]

(ख) " जाके हिरदै बसिओ हरि नाम । सगल मनोरथ ताके पूरन कामा।"[6]

(ग) " हरि राम राम राम रामा । जपि पूरन होए कामा ।"[7]

(घ) " जिस नामु हिरदै तिसु पूरे कामा ।"[8]

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, पद 4-59, पृष्ठ 191
2 वही, महला 5, पद 8-2-4, पृष्ठ 863
3 वही, महला 5, पद 4-5, पृष्ठ 1339
4 वही, महला 5, पद 4-14-46, पृष्ठ 867
5 वही, महला 5, पद 4-4, पृष्ठ 176
6 वही, महला 5, पद 4-87, पृष्ठ 197
7 वही, महला 5, पद 4-3-171, पृष्ठ 218
8 वही, महला 5, पद 8-1-4, पृष्ठ 1155

नाम-स्मरण से मनोवांछित फलों की प्राप्ति होती है और सारे शोक दूर हो जाते हैं --

" मन मेरे राम नामु जपि जापि । मन इछे फल मुंचि ।
तू सभु छडे सोग संतापु ।" [1]

इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव ने नाम-स्मरण के द्वारा उन सभी विघ्नों का नाश बताया है जो सांसारिक जीव को पदे-पदे पीड़ित करते हैं और उन सभी सुखों का साधन माना है जिनके लिए सांसारिक जीव सदा लालायित रहता है ।

पारमार्थिक फल :- हरि का नाम स्मरण करने से काम-क्रोध, मोह तथा अंकार का नाश हो जाता है । सच्चा सुख तथा आनन्द प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि भक्त सांसारिक मोह-माया का त्याग करे । इनसे छुटकारा दिलाने में प्रभु का नाम ही सहायक है क्योंकि जिन जीवों ने काम क्रोध आदि सांसारिक संतापों से ग्रस्त एवं त्रस्त होकर हरि-नाम का स्मरण किया है , वे सभी बंधनों से मुक्त हो गए हैं --

" नाम निधानु जिनि जिनि जपिओ तिन के बंधन काटे ।
काम क्रोध माहजा बिखु ममता इह बिआधि ते छाटे ।" [2]

हरि के नाम का निरंतर जप करने से प्राणी सदैव आनंदमय तथा शील-सम्पन्न बना रहता है --

" रैनि दिनसु जपउ हरि नामु । आगै दरगह पावउ थाउ ।
सदा आनंद न होवी सोगु । कबहु न बिआपै दुखमै रोगु ।" [3]

इसीलिए साधक प्रभु के नाम को सर्वस्व मानता है और उसके लिए रत्न, जवाहर आदि कुछ भी महत्व नहीं रखते --

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-17, पृष्ठ 48
2 वही, महला 5, पद 4-5-6, पृष्ठ 496
3 वही, महला 5, पद 4-22-33, पृष्ठ 893

" बिनु हरि नाम मिथिआ सभ छारु ।"[1]

xx xx xx

" रत्न जवेहर माणिक अमृतु हरि का नाउ ।"[2]

नाम-स्मरण से ही प्रसन्नता तथा आनंद की प्राप्ति होती है। नाम का आश्रय लेकर ही साधक भवसागर को पार कर सकता है। यही नाम-रस अपार तृप्ति का देने वाला है —

" जो जो पीवै सो तृपतावै । अमरु होवै जो नाम रसु पावै ।"[3]

साधक को अनहद नाद तथा शून्य समाधि की प्राप्ति भी नाम-स्मरण से ही होती है । अंत में साधक इसी के द्वारा उस वर्णनातीत अवस्था में पहुँच जाता है जिसे गुरुओं ने 'विस्माद' की अवस्था कहा है। विस्माद की अवस्था में साधक अनिर्वचनीय स्वाद का अनुभव करता है —

" प्रभ के सिमरनि अनहद धुनकार ।"[4]

xx xx xx

" बिसमन बिसम भए बिसमाद
जिनि बूझिआ तिनि आइआ स्वाद ।"[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-8, पृष्ठ 1137

2 वही, महला 5, पद 4-17, पृष्ठ 48

3 वही, महला 5, पद 4-15, पृष्ठ 100

4 वही, महला 5, पृष्ठ 265

5 (क) वही, महला 5, पद 4-16, पृष्ठ 285

(ख) नउ निधि अमृतु प्रभ का नाम । देही महि इसका बिस्रामु ।
सुन समाधि अनहत तह नाद । कहणु न जाई अचरजु विसमादु ॥

— श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-23, पृष्ठ 293

और तब वह ब्रह्म में लीन और अन्ततः ब्रह्ममय हो जाता है ।

दास्यासक्ति

दास्यासक्ति में भक्त स्वयं को प्रभु का दास मानता है और निरंतर उसकी सेवा में रत रहने को ही अपना परम सौभाग्य समझता है । सिक्ख-गुरुओं ने भी प्रभु को अपना स्वामी तथा स्वयं को उसका सेवक माना है । गुरु नानकदेव स्वयं को परमात्मा का खरीदा हुआ दास समझते हैं और इसी में अपना परम सौभाग्य मानते हैं ।[1] गुरु रामदास भी स्वयं को अपने स्वामी द्वारा खुले बाज़ार में खरीदा गया गुलाम मानते हैं । भला ऐसा गुलाम अपने स्वामी से क्या चतुराई कर सकता है । यदि वह राज्य-सिंहासन पर बैठा है, या भिखारी बना दे तो भी वह अपना ही नाम जपेगा ।[2] गुरु अर्जुनदेव ने भी भक्ति में प्रविष्ट होने के लिए ही यह शर्त रख दी है —

" पहला मरण कबूल कर । जीवण की छडि आस ।
होहु सभना धीरेणुका, तउ आउ हमारे पास ।"[3]

गुरु अर्जुनदेव अपने स्वामी के लिए प्रत्येक काम करने के लिए तैयार हैं । वह उसका प्रेम-पात्र बनने के लिए सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को त्याग कर इसकी सेवा करना चाहते हैं । अपने केशों से अपने प्रभु को चँवर डुलाना चाहते हैं —

---

1 " गुल खरीदी लाल गोला मेरा नाउ सभागा ।"
— श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 991

2 " लाल हाटि विहाझिआ किआ तिसु चतुराई ।
जे राजु बहाले ता हरि गुलाम घासी कढु हरि नामु कढाई ।
जन नानक हरिका दासु है, हरि की वडिआई ॥
—श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 4, पृष्ठ 166

3 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1-23, पृष्ठ 1102

(1) "पाणी पखा पीसु दास के तब होइ निहालु ।
राज मिलख सिकदारिआ अगनि मिठ जालु ।"[1]

(2) "पखा फेरि पानी ढोवा हरिजन के पीसणु पीसि कमावा ।"[2]

(3) "केसा का करि बीजना संत चउर डुलावउ ।"[3]

(4) "जलु ढोवउ इह सीस करि कर पग पखलावउ ।"[4]

ये हरि के भक्त की सेवा करने में भी अपना सौभाग्य मानते हैं । कहते हैं कि मैं तुम्हारे सेवक की भी सेवा करूँगा और अपने बालों से उसके पग की धूल को भी झाड़ूंगा —

"टहल करउ तेरे दास की पग झारउ बाल ।"[5]

दास-भावना से ये इतने अभिभूत हैं कि स्वयं को हरि के दास का भी दास बनाने में अपना अहोभाग्य मानते हैं —

"छछा छोडरे दास तुम्हारे । दास दासन के पानीहारे ।"[6]

प्रभु की सेवा को सबसे बड़ी निधि मानते हुए इन्होंने कहा है —

"जाकी सेवा सरब निधान, प्रभु की पूजा पाइए मानु ।
जाकी टहल न बिरथी जाइ, सदा सदा हरि के गुन गाइ ।"[7]

अर्थात् उस प्रभु की सेवा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती, बल्कि उससे मनुष्य को मान की प्राप्ति होती है । एक अन्य स्थल पर भी गुरु अर्जुनदेव ने कहा है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 5-14-44, पृष्ठ 811
2 वही, महला 5, पद 8-6-54, पृष्ठ 748
3 वही, महला 5, पद 4-2-42, पृष्ठ 745
4 वही, महला 5, पद 4-21-51, पृष्ठ 813
5 वही, महला 5, पद 4-11-41, पृष्ठ 810
6 वही, महला 5, पद 23 पृष्ठ 254
7 वही, महला 5, पद 4-15, पृष्ठ 184

"हम दासे तुम ठाकुर मेरे
मानु महतु नानक प्रभ तेरे ।"[1]

हे प्रभु ! तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारा दास । तुम्हारे ही मान-महत्व से मेरा गौरव है ।

इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव की भक्ति-भावना में अपने स्वामी के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना है । इस भावना में दृढ़ता का महत्व एवं स्वाभाविक समर्पण है जो भक्त की अपने भगवान् के प्रति निश्छल आत्मीयता का द्योतक है ।

सख्यभक्ति

भारतीय समग्र भक्ति-धारा में सखा-भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है । अर्जुन और उद्धव का नाम इस कोटि के भक्तों में उल्लेखनीय है । यद्यपि निर्गुण-भक्ति में इस भाव की भक्ति को अधिक स्थान नहीं मिला, तथापि सिख-गुरुओं ने परमात्मा को सखा के रूप में भी चित्रित किया है । गुरु नानकदेव कहते हैं कि परमात्मा के समान मेरा कोई मित्र नहीं ।[2] गुरु अर्जुनदेव का विचार है कि केवल परमात्मा को ही अपना सखा मित्र समझना चाहिए —

"साजनु मीतु सखा करि एकु ।
हरि हरि अखर मन महि लेखु ।"[3]

इसलिए इन्होंने परमात्मा को ही अपना मित्र, साजन, स्वामी और एकमात्र आधार माना है —

"तू मेरा मीतु साजनु सुआमी, तुझ बिन अवरु न जानीमा ।"[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-40, पृष्ठ 188

2 "हरि सा मीतु नाही मै कोई ।"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 1027

3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-62, पृष्ठ 192

4 वही, महला 5, पद 8-3, पृष्ठ 131

ऐसे मित्र के बिना एक क्षण भी रहना कठिन और दुखदाई है । अपनी इस अवस्था का वर्णन इन्होंने इन शब्दों में किया है —

" तू मेरा सखा तू ही मेरा मीतु ।
तू मेरा प्रीतम तुम संगि हीतु ।
तू मेरी पति तू मेरा गहणा ।
तुझ बिनु निमखु न जाई रहणा ।"[1]

हे हरि ! तू मेरा सखा है, तू ही मेरा मित्र है, तू ही मेरा प्रियतम और संगी है । तू मेरी मर्यादा और मेरा आभूषण है । तेरे बिना मैं एक पल भी तो नहीं रह सकता ।

परमात्मा के प्रति ये अनेक सम्बन्ध भक्त की गहन निष्ठा तथा आस्था के सूचक हैं । भारत के ऋषि-महर्षियों ने भी 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव' से इसी प्रकार की निष्ठा और आस्था को व्यक्त किया है । अतः स्पष्ट है कि परमात्मा में विविध सम्बन्धों की कल्पना भारतीय भक्ति-पद्धति की पुरातन परम्परा है ।

जिस मनुष्य ने परमात्मा को अपना मित्र बना लिया उसके संसार में किसी प्रकार का अभाव नहीं सहना पड़ता । उसके समस्त दुख भी दूर हो जाते हैं । अतः ऐसे प्रभु को मित्र बना कर सदा ही ध्यान में रखना चाहिए —

" जाका मीत साजन है सभीआ, तिसु धन कउ का की कमीआ ।
जाकी प्रीति गोबिंद सिउ लागी, दुख दरदु भरमु, ताका भागी ।"[2]

कहने का भाव यह है कि सख्यासक्ति की अधिकता न होने पर भी गुरु अर्जुनदेव की सख्यासक्ति में वही आत्मीयता मिलती है, जो इस सम्बन्ध के लिए प्रसिद्ध कृष्णकाव्यधारा में दिखाई देती है । मूलतः निर्गुणोपासक होते हुए भी इस प्रकार की सख्यासक्ति की अभिव्यक्ति इनके सहज भक्त-हृदय की परिचायिका है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-18, पृष्ठ 18।
2 वही, महला 5, पद 4-33, पृष्ठ 186

कांतासक्ति

भक्ति के क्षेत्र में अपने भावों को पूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए तथा अपने आराध्य की महत्ता का वर्णन करने के लिए भक्त भगवान् के साथ अनेक सम्बन्धों की कल्पना करके आनंदमग्न होता है । कांतासक्ति इन्हीं सम्बन्धों में से एक सम्बन्ध है । कांता या दाम्पत्य-सम्बन्ध में जितनी एकरूपता, तदाकारता और तन्मयता है, उतनी किसी अन्य सम्बन्ध में नहीं । दाम्पत्य-सम्बन्ध में द्वैतभाव के लिए कहीं स्थान नहीं रहता, क्योंकि पत्नी अपने पति से पवित्र प्रेम करती है, निश्छल हृदय से उसका आदर करती है और स्वयं को पूर्णतया समर्पित करके उसकी सेवा में मग्न रहती है । यही एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें हृदय की मधुरतम भावनाएँ और पूर्ण समर्पण की भावनाएँ अधिकाधिक प्रभावशाली रूपों में व्यक्त की जा सकती हैं । यही कारण है कि ब्रह्म को निर्गुण और निराकार मानने वाले संत-कवियों ने भी प्रभु को पति तथा स्वयं (आत्मा) को उसकी पत्नी मानकर अपनी भक्ति-भावनाएँ व्यक्त की हैं । सिक्ख-गुरुओं ने भी अपनी प्रेमा अथवा रागात्मिका भक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए इस सम्बन्ध को भी स्वीकार किया है ।

गुरु नानकदेव के विचारानुसार वही सुहागिन है जो निर्मल मन-रूपी मोती को श्वास और प्रश्वास के जप-रूपी धागे में पिरोकर पहने और क्षमा का शृंगार करे । ऐसी ही स्त्री प्रियतम के साथ रमण कर सकती है ।[1] गुरु अर्जुनदेव भी जीव-रूपी स्त्री की परमात्मा-रूपी पति के सम्मुख विनम्र विनय को प्रकट करते हुए कहते हैं —

---

1. मनु मोती जो गड़णा होवै, पउणु सूत धारी ।
खिमा सिंगारु करमनि तन पहिरै, रावै लाल पिआरी ।
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला १, पृष्ठ 359

" तु ठाकुर वेरागड़ो, मैं जेही धणि वेरी राम ।
तु सागरो रतनागरो इउ सार न जाना तेरी राम ।
किरपा कीजै सा मति दीजै आठ पहर तुधु धिआई ।
गरव न कीजै वैण छोडीजै लागति जी अरे तेरी ।
सम ऊरि नानक का ठाकरु मैं जेही धण वेरी राम ।
तुम गउहर गहिर गंभीरा तुम विर इसा वहुरीआ राम ।
तुम वड़े वड़े वड ऊचे इउ रतनीक लहुरीआ राम ॥ "[1]

अर्थात् जीवात्मा-रूपी स्त्री गुणों के भंडार प्रभु का पार नहीं पा सकती । वह तो केवल उसकी आज्ञा का पालन करने वाली है और चाहती है कि प्रभु-कृपा से आठों पहर वह उसीका जाप करे । प्रभु की महत्ता के सम्मुख वह स्वयं को बार-बार निर्बल अनुभव करती है । उस परमात्मा-रूपी पति को प्रसन्न करना कठिन काम नहीं । वह तो अनन्य भक्ति से सहज रूप से ही प्रसन्न हो जाता है । इसीलिए तो वह आत्मा के (स्त्री के) रूप तथा शृंगार की ओर ध्यान न देकर, उसके अवगुणों को अनदेखा करके, उसे अपना लेता है —

" गुन अवगुन मेरे कछु न विचारो ।
नह देखिओ रूप रंग सीगारो ॥
वड अचार किछु विधि नहीं जानी ।
वांह पकरि प्रिअ सेजै आनी ॥ "[2]

जिस स्त्री को प्रभु-रूपी पति ने अपना लिया, वही सुहागिनी है —

" सा सोहागिनी अंक समावै ।
गरव गहेल महलु न पावै ॥
किरु पछतावै जब रैनि विहावै ।
करमहीन मनमुख दुखु पावै ॥ "[3]

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-4, पृष्ठ 779
2 वही, महला 5, पद 4-7, पृष्ठ 372
3 वही, महला 5, पद 4-3, पृष्ठ 737

जो स्त्री अहंकारी है, वह पति के महल का द्वार भी पार नहीं कर सकती। अतः निरर्थक ही रात व्यतीत हो जाने पर तथा अपने प्रियतम से न मिलने के कारण वह अत्यधिक पछताती है। वह फिर मिलने के उपाय ढूँढती है। परन्तु वह उपाय है क्या ? इसी का वर्णन गुरू अर्जुनदेव ने अत्यन्त सरस रीति से प्रस्तुत किया है — सखी उससे (जीवात्मा से) कहती है कि अब प्रभु-स्वामी पति को प्रसन्न करले, अहंकार को दूर करके नम्रता-रूपी टोने से और गुरू के उपदेश-रूपी मंत्र से उसको वश में करले। यदि वह प्रियतम प्रभु एक बार वश में हो गया तो फिर तुझे छोड़ कर कहीं नहीं जायेगा —

" सुनि सखीए मिलि उदमु करे हा मनाइ लेहि हरि कंते।
मानु तिआगु करि मगति ठगउरी मीठ साधू मंते।
सखी वसि आइआ फिरि छोडि न जाइ इह रीति भली भगवंते।"[1]

और अंत में जब पत्नी (आत्मा) अपने पति (परमात्मा) को प्राप्त कर लेती है तो उसके सभी दुःख दूर हो जाते हैं —

" जब नानक कंतु रंगीला पाइआ फिरि दुखु न लागै आइ।"[2]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि जिस प्रकार अन्य संत-कवियों में कांताभाव का वर्णन विविध होते हुए भी अपेक्षित मधुर नहीं है, उसी प्रकार गुरू अर्जुनदेव द्वारा वर्णित कांतासम्मित में संत-कवि को आयास माधुर्य ही मिलता है, सहज माधुर्य नहीं। फिर भी इस सम्बन्ध के माध्यम से जो दार्शनिक विचारों तथा सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति उन्होंने की है, वह अत्यंत सरस तथा प्रभावपूर्ण है।

वात्सल्यसम्मित

माता-पिता का स्नेह अपने पुत्र से होना स्वाभाविक ही है, चाहे वह पुत्र गुणी हो या गुणहीन, सत्कर्मों में प्रवृत्त हो या दुष्कर्मों में। फिर प्रभु तो

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-4, पृष्ठ 249
2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1266

अत्यन्त कृपालु हैं । इसीलिए भक्तों ने उन्हें अपना पिता-माता मानकर उनकी प्रार्थना की है । गुरु अर्जुनदेव ने भी अनेक स्थलों पर प्रभु को माता-पिता के रूप में स्मरण किया है । यथा —

" अपने सेवक कउ आपि सहाई ।
जिउ प्रतिपारै बाप भैले माई ॥ "[1]

अर्थात् प्रभु अपने भक्तों की उसी प्रकार रक्षा करता है जैसे माता-पिता अपने पुत्र की करते हैं । जिस प्रकार एक बालक अनेक गलतियाँ करता है, फिर भी उसके माता-पिता उसे गले से लगा लेते हैं, उसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तों को क्षमा करके अपनी शरण में आश्रय देता है —

" हम बारिक पिता प्रभु दाता ।
भूलहि बारिक अनिक लख बरिआ अन ठउर नाही गह जाता ।
चंचलमति बारिक बपुरे की सरप अगनि कर भैले ।
माता पिता कंठ लाई राखे अनद सहजि सभ खेले ।
जिस का पिता सु है मेरे सुआमी तिसु बारिक मुख कैसी ;
नव निधि नामु निधानु गृहि तेरै मनि चाहे सो लैसी ।" [2]

xx xx xx xx

" भूलिहि चुकहि बारिक तू हरि पिता माइआ ।" [3]

अर्थात् बच्चे तो गलतियाँ करते ही रहते हैं । हे प्रभु ! आप तो हमारे माता-पिता हैं इसलिए उनको ध्यान में न लाना । प्रभु को पिता मानकर ये प्रार्थना करते हैं कि तुम ही मेरे पिता हो, तुम ही मेरे रक्षक हो । मुझ में कोई गुण नहीं है, परन्तु आप सर्वगुण-सम्पन्न हैं ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-113, पृष्ठ 202
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 1266
3 वही, महला 5, पद 4-27, पृष्ठ 51

" राजु पिता प्रभ मेरे । मोहि निरगुन सभ गुन तेरे ।"[1]

गुरु अर्जुनदेव ने प्रभु को सब जीवों का पिता माना है जिसके अक्षय भंडार नवनिधियों से भरे हुए हैं —

" तू संगी साहिब बाप हमारा
नउ निधि तेरे अखुट भंडारा ।"[2]

xx xx xx

" एक पिता एकस के हम बारिक ।"[3]

xx xx xx

" तू पिता सामि बारिक धारे ।
जिउ खेलावहि तिउ खेलह हारे ।"[4]

एक अन्य स्थल पर गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि प्रभु ही हमारे माता तथा पिता हैं । हम उनके बालक हैं । वे निरन्तर हमारा ध्यान रखते हैं और हमारे अवगुणों की ओर ध्यान न देकर हमें गले से लगा लेते हैं । हमारे सुखदायी पिता हमारी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करते हैं । यही तक कि वे अपने पुत्र को योग्य पाकर ज्ञान-राशि और नाम-धन भी सौंप देते हैं —

" हरि जी माता हरि जी पिता हरि जीउ इति बालक ।
हरि जी मेरो सार करे हम हरि के बालक ।
सहजे सहजि खिलावदा नहीं करदा आलक ।
अउगुण को न चितारदा गल लेतो लाइक ।
मुंह मंगा सोई देवदा हरि पिता सुख दाइक ।
गिआनु रासि नाम धनु सउपि औनु सरब सुख लाइक ।"[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-4-125, पृष्ठ 205
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 97
3 वही, महला 5, पद 4-1-12, पृष्ठ 611
4 वही, महला 5, पद 16-1-60, पृष्ठ 1081
5 वही, महला 5, पद 21, पृष्ठ 1101-1102

इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव की भक्ति-भावना वात्सल्यासक्ति से भी सम्पन्न है, पर इस आसक्ति में अपेक्षित सरसता का अभाव है । अधिकांशतः परमात्मा का ही पिता-रूप में वर्णन है । पिता (परमात्मा) के गुण ही इस आसक्ति के अन्तर्गत वर्णित हैं ।

तन्मयतासक्ति

प्रत्येक भगवदोन्मुख जीव की यह प्रबल आकांक्षा होती है कि वह अपनी सत्ता का विसर्जन करके अपने प्रभु में तन्मय हो जाये, अपना सर्वस्व उसके प्रति समर्पण करके उसके निरन्तर दर्शन से स्वयं को आनन्द में निमग्न करता रहे । उसकी इस आकांक्षा को तन्मयतासक्ति कहा जाता है । प्रभु से तन्मयता प्राप्त करने में 'अहं' सर्वाधिक प्रबल बाधक तत्व है । जब तक इसका विनाश नहीं हो जाता, तब तक तन्मयता की स्थिति नहीं आती । तन्मयतासक्ति भक्ति के प्रमुख अंगों में से है, इसीलिए संत और भक्त दोनों प्रकार के कवियों ने इस स्थिति के अत्यंत सरस एवं भावपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किये हैं । कबीरदास अपने अहं को मिटाकर अपने प्रभु में इतने तन्मय हो जाते हैं कि सर्वत्र उसी की सत्ता देखते हैं, उसी के रूप का दर्शन करते हैं ।[1] सूरदास की गोपियाँ भी इतनी कृष्णमय हो जाती हैं कि वे या तो स्वयं कृष्णमय हो जाती हैं, या दही का नाम भूलकर कृष्ण के नाम की ही बोलियाँ लगाने लगती हैं ।[2] इस दशा को प्राप्त करके

---

1 जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि ।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि ॥
— कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ 12

2 (क) गोरस को निज नाम भुलायो ।
लेहु लेहु कोऊ गोपालहिं, गलिनि गलिनि यह सारे लगायो ॥
कोउ कहै, श्याम, कृष्ण कहै कोऊ, आनु दरस नाहीं कम पायो ।
जाके सुधि तन की कछु आवति, लेहु दही कहि तिनहिं सुनायो ॥
इक कहि ऊठति दान भीगत हरि, कहूँ गई कै तुमहिं चलायो ।
सुनहु सूर तरुनी जोबन-मद, तापर श्याम-मधारस पायो ॥
1637 ; 2255 ।
सूरसागर, पृष्ठ 827

(ख) (कृपया अगले पृष्ठ के फुटनोट के साथ देखिए)

जीव का अपना कुछ नहीं रहता, वह अपना सर्वस्व अपने प्रभु के प्रति ही अर्पण कर देता है । गुरु अर्जुनदेव की भक्ति-भावना में तन्मयतासहित के ऐसे अनेक चित्रण मिलते हैं । यथा —

" मनु तनु तेरा धन भी तेरा । तुं ठाकुर सुआमी प्रभु मेरा ।
जीउ पिंडु सभ रासि तुमारी तेरा जोरु गोपाला जीउ ।
सदा सदा तू है सुखदाई । निधि निधि लागा तेरी पाई ।
कार कमावा जे तुध भावा । जा तू देहि दरबाला जीउ ।
प्रभ तुम ते लहणा तू मेरा गहणा । जो तू देहि सोई सुखु कहणा ।
जिथै रखहि बैकुंठु तिथाई तुं सभना के प्रतिपाला जीउ ।
सिमरि सिमरि नानक सुखु पाइआ । अठ पहर तेरे गुण गाइआ ।
सगल मनोरथ पूरन होए कबै न होइ दुखाला जीउ । "[1]

हे प्रभु ! यह मन, तन, धन सब कुछ तेरा ही है । तू ही मेरा स्वामी है । मैं तेरा सेवक हूँ । तू सदा सुख देने वाला है । मैं तेरे चरणों में नमस्कार करता हूँ । तेरी कृपा से ही मैं वही कार्य करूंगा जो तुझे पसंद होगा । हे प्रभु ! मैंने सभी सुख तुझ से ही लेने हैं, तू ही मेरा आभूषण है । तेरी प्रत्येक इच्छा मुझे सुखदाई लगती है । जिस जगह तू मुझे रखेगा, मेरे लिए वह स्थान स्वर्ग के समान है । मैं तो सदा तेरा स्मरण ही करके सुख प्राप्त करूंगा और मेरी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी ।

(पिछले पृष्ठ का बकाया फुटनोट)

(ब) कोउ माई लेहै री गोपालहि ।

तजिको नाम स्यामसुंदर-रस, बिसरि गयो ब्रज-बालहि ॥
मटुकी सीस, फिरति ब्रज-बीथिनि, बोलति बचन रसालहि ।
उफनत तक्र चहूँ दिसि चितवत, चित लाग्यो नँद लालहि ॥
हँसति, रिसति, बुलावति, बरजत देखहु इनकी चालहि ।
सूर स्याम बिनु और न आवै, या बिरहिनि बेहालहि ॥
1639 ; 2257

— सूर सागर, पृष्ठ 828

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-33, पृष्ठ 106

परमविरहावस्था

संत-कवियों की भक्ति-भावना में विरह-वर्णन भी मिलता है। परमात्मा के साथ आत्मा के अनेक सम्बन्धों में एक सम्बन्ध कांताभाव का भी है। जब आत्मा कांता-रूप में और परमात्मा पति-रूप में मान लिया गया, तो विरहावस्था का आना स्वाभाविक ही है। विरह के कारण प्रेम की दृढ़ता, उज्ज्वलता और प्रसार का बोध कराया जाता है। इसीलिए सभी संत-कवियों ने विरह का वर्णन किया है, यद्यपि इनके वर्णन में बौद्धिकता का प्राधान्य होने के कारण अभिव्यक्ति की सहजता का अभाव है। प्रेम का स्वरूप में तभी निखार आता है, जब यह वियोगाग्नि में तपता है। अतः प्रेम का सर्व प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है दृढ़ता। गुरु अर्जुनदेव ने अपने प्रेम की दृढ़ता का वर्णन इस प्रकार किया है —

"इक निमख रहनु न जाइ। वडभागि नानक पाइ।
प्रभ तुझ बिना नहीं होर। मनि प्रीति चंद चकोर।
जिउ मीन जल सिउ हेतु। अलि कमल जिनु न चेतु।
जिउ चकवी सूरज आस। नानक चरण विआस।
जिउ तरुनि भरत परान। जिउ लोभी हे धनु दानु।
जिउ दूध जलहि संजोगु। जिउ महा खुधि आरध भोगु।
जिउ दीप पतन पतंग। जिउ चोर हिरत निसंग।
भैगलहि कामै धंधु। जिउ प्रसत बिखई धंधु।
जिउ जुआर बिसनु न जाइ। हरि नानक इहु मनु लाइ।
कुरंक नादै नेहु। बातकु चाहत मेहु।"[1]

हे प्रभु! तुम्हारे दर्शन कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही कर सकता है। मैं तुम्हारे बिना अब एक पल भी नहीं रह सकता। मेरे मन में आपके लिए वैसा ही प्रेम है जैसा चकोर को चन्द्रमा से, मीन को जल से, भौंरे को फूल से,

---

1. गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 10-2, पृष्ठ 837

चकवी को सूर्य से, सुधी को पति से, लोभी को धन से, दूध को पानी से, भूखे को भोजन से, माता को पुत्र से, पतंग को दीपक से, चोर को निर्जन स्थान से, हाथी को काम से, विषयी मनुष्य को सांसारिक प्रपंचों से, जुआरी को जुए से, मृग को नाद से तथा चातक को मेघ से होता है ।

परमात्मा के प्रति अपने विरह का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है कि उनके बिना मेरा मन उसी प्रकार व्यथित है जिस प्रकार बादल के बिना चातक की न तो तृष्णा ही बुझती है और न उसके मन को शान्ति ही मिलती है —

" मेरा मन लोचै गुर दरसन ताईं । बिलप करे चात्रिक की निआईं ।
तृखा न उतरै सांति न आवै बिनु दरसन संत पिआरे जीउ ॥ "[1]

कांता का शृंगार उसका प्रियतम ही है, इसी भाव को व्यक्त करते हुए इन्होंने कहा है, कि जिस प्रकार जल के बिना शाखाएँ मुरझा जाती हैं उसी प्रकार जलके बिना मेरा घर सूना और मेरा सारा शृंगार फीका है —

" जल बिनु साख कुमलावती उपजहि नाही दाम ।
हरि नाम न मिलीऐ साजनै कत पाईऐ बिसराम ।
जितु घरि हरि कंतु न प्रगटई सहि नगर से ग्राम
सब सीगार तंबोल रस सभु देही सभ खाम । "[2]

विरहणी प्रियतम के लिए संदेश भेजने का उपक्रम करती है क्योंकि वह हर समय अपने प्रियतम के विरह में दुखी रहती है । स्वप्न में भी उसके मन को शान्ति नहीं मिलती । यही विरह की वह स्थिति है, जहाँ विरहिणी अपने अस्तित्व को विस्मृत करके प्रियतम के रूप में मिल जाती है और स्वयं कष्ट सहन करके भी ~~प्रियतम के रूप में मिल जाती है और स्वयं कष्ट सहन करके भी~~ प्रियतम की मंगल-कामना करती है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96

2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 133

" ओइ परदेसीआ हां । सुनत संदेसिआ हां ।
जा सिउ रचिरहे हां । सभ कउ तजि गए हां ।
सुपना भिउ भए हां । हरि नामु जिम्हि लए ।
हरि तजि अन लगे हां । जनमहि मरि भगे हां ।
हरि हरि जन लहे हां । जीवत से रहे हां ।
जिसहि कृपालु होइ हां । नानक भगतु सोइ ।"[1]

विरहिणी कांता प्रियतम से मिलने के लिए अत्यंत उत्सुक है, क्योंकि वह उसके बिना नहीं रह सकती । तन-मन से प्रियतम के प्रेम में रंगने के कारण वह विरह-व्यथा से इतनी व्यथित है कि वह अपनी वेदना का वर्णन भी नहीं कर पाती । फिर भी उसे यह जानकर संतोष है कि उसका प्रियतम उसके मन की सारी वेदना को जानता है —

"ओइ जीअ की मेरी सभ वेदन जाणे ।"[2]

यह भाव विरहासक्ति की अभिव्यक्ति के लिए परम्परागत है । प्रायः सभी कवियों ने विरह के अन्तर्गत इस भाव को अभिव्यक्त की है ।[3]

विरहिणी कांता अपने प्रिय के विरह में इतनी अधिक दुखी रहती है कि उसके जीवन का सारा व्यापार ही अस्तव्यस्त हो जाता है । उसे नींद नहीं आती, साज-शृंगार अच्छे नहीं लगते । प्रियतम को देखने की उसकी लालसा व्याकुलता में बदल जाती है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-7-163, पृष्ठ 411

2 वडी, महला 5, पद 5-1-9, पृष्ठ 564

3 (क) वाआइ कि भणिज्जउ केसिअमेंतं व लिक्खए लेहे ।
तुह विरहे जं दुक्खं तरस तुमं चेअ गहिअत्थो ॥
— गाहासत्तसई, 6-7।

(ख) कागद पर लिखत न बनै, कहत संदेसु लजात ।
कहि है सबु तेरौ हियो, मेरे हिय की बात ॥
— बिहारी-रत्नाकर, दोहा 60

" मोहन नीव न आवै हावै डार कजर वसत्र अभरन कीने
उडीनी उडीनी उडीनी । कब घरि आवै री ।
सरनि सोहागनि चरन सीसु धरि ।
लालनु मोहि मिलावहु । कब घरि आवै री ।
सुनहु सहेरी मिलन बात कहउ सगरो अह मिटावहु तउ घर
डी लालन पावहु
तब रस मंगल गुन गावहु । आनद रस बिआवहु । "[1]

इन पंक्तियों में "सुनहु सहेरी मिलन बात कहउ सगरो मिटावहु तउ घर डी लालन पावहु" विशेष विचारणीय है । इसमें आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि परमविरहासक्ति डी वह स्थिति है जहाँ आत्मा परमात्मा से तदाकारता प्राप्त कर सकती है ।

कहीं-कहीं गुरु अर्जुनदेव ने विरह-वर्णन में वैसा डी छंद और वैसे डी भाव व्यक्त किए हैं जैसे सगुण कवियों ने प्रकट किए हैं —

" बिसरत नाही मन ते हरी ।
अब इह प्रीति मडा प्रबल भई आन बिधे जरी ।
बूंद कडा तिआगि चातृक मीन रहत न धरी
गुन गोपाल उचारु रसना टेव एह परी ।
मडा नाद कुरक मोहिओ बेधि तीखन सरी ।
ब्रम चरन कमल रसाल नानक गाठि बाधि धरी । "[2]

विरहिणी का मुख्य उद्देश्य अपने प्रवासी प्रियतम की प्राप्ति और तज्जन्य सुखानुभव होता है । प्रियतम की प्राप्ति के लिए वह सभी उपाय करती है । अपनी सखियों से भी वह वैसे डी उपाय पूछा करती है । अपने को गुणहीन

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 1-128, पृष्ठ 830

2 वही, महला 5, पद 2-1-9, पृष्ठ 1121

बताना वस्तुतः उसके प्रेम के गाम्भीर्य का द्योतक होता है । निम्नलिखित पद में विरहिणी कांता अपनी असहाय अवस्था का वर्णन अत्यंत मार्मिकढंग से कर रही है —

" कवन गुन प्रानपति मिलउ मेरी माई ।
रूप हीन बुधि बलहीनी मोहि परदेसनि दूर ते आई ।
नाहिन दरबु न जोबन माती मोहि अनाथ की करहु सगाई ।
खोजत खोजत भई बैरागनि प्रभ दरसन कउ हउ फिरत तिसाई ।
दीन दइआल कृपाल प्रभ नानक साधसंगि मेरी जलन बुझाई । "[1]

गुरु अर्जुनदेव मुलतः संत कवि हैं, इसलिए इनके विरह-वर्णन में कहीं-कहीं दार्शनिकता का अधिक्य होना भी स्वाभाविक है । ऐसे स्थलों पर दर्शन की प्रधानता होने के कारण भावों की मार्मिकता कुंठित हो गई है । यथा —

" अंतरि अलख न जाई लखिआ विचि पड़दा हउमै पाई ।
माइआ मोहि सभो जगु सोइआइहु चरमु कहहु किउ जाई ।
इका संगति इकतु गृहि वसते मिलि बात न करते भाई ।
इक वसतु बिनु पंच दुहेले और वसतु अगोचर ठाई ॥"[2]

संयोग में वस्तु वर्णन और वियोग में बारहमासा का वर्णन करने की भी साहित्यिक परम्परा रही है । इस परम्परा का मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि संयोग में जो क्षण शीघ्र बीत जाते हैं, वियोग में वे ही लम्बे प्रतीत होते हैं । वस्तु और बारहमासा में यद्यपि समय का अंतर नहीं है, तथापि इनके प्रयोग से यही ध्वनित होता है कि जैसे वस्तु की समयावधि छोटी है और बारहमासा की लम्बी । गुरु अर्जुनदेव ने भी विरहासक्ति के वर्णन में इस साहित्यिक परम्परा का अनुकरण किया है और बड़े ही मार्मिक शब्दों में विरहिणी के भावों

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-118, पृष्ठ 204

2 वही, महला 5, पद 1-122, पृष्ठ 204

को व्यक्त किया है ।[1]

अंत में यह बता देना भी आवश्यक है कि गुरु अर्जुनदेव मुख्यतः संत हैं – उन्मुक्त भावनाओं के संत और भक्त, इसीलिए इन्होंने जो विरह-वर्णन किया है, उसमें यत्र-तत्र बौद्धिक योग होने से भावयोग क्षीण हो गया है और कहीं-कहीं भावयोग बौद्धिक योग पर विजयी दिखाई देता है । अतः कह सकते हैं कि सामान्य कवि के विरह-वर्णन में जो मार्मिकता होती है, उसका इनमें अभाव है, क्योंकि इनका विरह अनुभूत नहीं, बुद्धिजन्य है ।

आत्म-निवेदनात्मकता

जब साधक सभी ओर से निराश हो जाता है तो वह प्रभु के सम्मुख अपनी दीनता, तुच्छता तथा अपने पापों का वर्णन और अपने इष्टदेव का गुणगान करता है । इससे उसके अन्तःकरण का कालुष्य मिट जाता है और वह निरभिमानी बन जाता है । इसीलिए मध्ययुगीन सभी संतों में दैन्य-भावना दिखाई पड़ती है । सिख-गुरुओं की भक्ति में भी यह भावना पर्याप्त रूप में मिलती है । गुरु अर्जुनदेव प्रभु को सर्वगुण-सम्पन्न तथा दुखहर्ता और स्वयं को अपवित्र, मूर्ख तथा पापी बताते हुए कहते हैं –

" हम मैले तुम ऊजल करते हम निरगुन तू दाता ।
हम मूरख तुम चतुर सिआणे तू सरब कला का गिआता ।
माधो हम ऐसे तू ऐसा । हम पापी तुम पाप खंडन नीके ठाकुर देसा ।
तुम सभ साजे साजि निवाजे जिउ पिंड दे प्राना ।
निरगुनिआरे गुनु नहीं कोई तुम दानु देहु मिहर वाना ।"[2]

वे यह भी कहते हैं कि मैंने तो राम से ही प्रेम किया है । मुझे सच्चा गुरु मिला गया जिसने मेरे सारे-कष्टों को दूर कर दिया । मेरा प्रभु निंदकों को दंड देनेवाला

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 133-135

2 वही, महला 5, पद 4-6-17, पृष्ठ 613

और अपने भक्तों की सहायता करने वाला है ।[1] मैंने ऐसे प्रभु के नाम की औषधि पा ली है जिससे द्वैतभाव का नाश हो गया है । मेरा प्रभु सभी बंधनों को काटने वाला है, वह अपने सेवक को कहीं भी पराजित नहीं होने देता ।[2] अपनी दीनता को अभिव्यक्ति करते हुए ये कहते हैं —

" हा हा प्रभु राखि लेहु ।
हम ते किछु न होइ मेरे स्वामी करि किरपा अपना नामु देहु ।
अगनि कुटंब सागर संसार । भरम मोहि अगिआन अंधार ।
ऊच नीच दुख सुख । आपसि नाही तुसना भुख ।
मन बसना रवि किसे बिआपि । पंच दुत संगि महा असाध ।
जीऊ जहानु प्रान धनु तेरा । नानक जानु सदा हरि मेरा ।"[3]

हे प्रभु ! मैं अब आपकी शरण में आ गया हूं । मैं आपकी सेवा किस प्रकार करूं, मुझे इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है । हम तो हमेशा अपराध करने वाले हैं और आप क्षमा करने वाले दयालु प्रभु हो । हम आपके दिए हुए सुखों को भूल जाते हैं क्योंकि हम कृतघ्न हैं, परन्तु आप तो दयालु और पापों को दूर करने वाले हैं —

" राखहु अपनी सरनि प्रभ मोहि किरपा धारे ।
सेवा किछु न जानऊ नीचु मुरखारे ।
मान करऊ तुध उमरे मेरे प्रीतम पिआरे ।
हम अपराधी सद भुलते तुम बखसन हारे ।
हम अवगन करह असंख नीति तुम निरगुन दातारे ।
दासी संगति प्रभु तिआगि न करम हमारे ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-17, पृष्ठ 675
2 वही, महला 5, पद 2-18, पृष्ठ 675
3 वही, महला 5, पद 4-1-19, पृष्ठ 675

तुम देवहु सबु किछु इहया थारि हम अकिरतघनारे ।
लागि परे तेरे चरनसिउ नाह चिति खसमारे ।
तुझ ते बाहरि किछु नही सब घटनहारे ।
कहु नानक सरनि दरजात गुर लेहु मुगध उधारे ।"[1]

प्रभु दिता है और आत्मा याचक । आत्मा स्वयं को प्रभु को समर्पित करदे, यही मार्ग उसके लिए कल्याणकारी है —

"जिउ आवे तिउ चलि प्रति पाल ।
पार ब्रह्म परमेसर सतिगुर हम बारिक तुम पिता किरपाल ।
मोहि निरगुन गुन नाही कोई पहुचि न साकउ तुमारी घाल ।"[2]

प्रभु पतित-पावन हैं, पीढ़ी-दी सेवा से ही वे रीझ जाते हैं और अपने सेवक के सभी दोषोंको क्षमा कर देते हैं । प्रभु के इन गुणों पर विश्वास करके ही गुरु अर्जुनदेव अपने दोषों का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि मैं अत्यन्त कुचील, कठोर, कपटी और कामी हूं और आप पतितों का उद्धार करने वाले । अतः मुझे भी इस भवसागर से पार कर दो —

"अपने सेवक कउ कबहु न बिसारहु ।
उरि लागहु सुआमी हम मेरे पूरब कीते गोबिंद बीचारहु ।
पतित पावन बिरद तुमारो हमरे दोख रिदै मत धारहु ।"[3]

xx xx xx xx

"कुचील कठोर कपट कामी ।
जिउ जानस तिउ तारि सुआमी ।"[4]

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि मैं इसीलिए आपकी शरण में आया हूं, क्योंकि आपने अनेक पतितों को इस भवसागर से पार किया है —

---

1 (क) श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-4-34, पृष्ठ 809
(ख) वही, महला 5, पद 4-26-37, पृष्ठ 894
2 वही, महला 5, पद 2-5-121, पृष्ठ 828
3 वही, महला 5, पद 2-7-123, पृष्ठ 829
4 वही, महला 5, पद 2-8-19, पृष्ठ 1301

"पांच बरस को अनाथ धु धारिकु हरि सिमरत अमर अटारे ।
पुत्र हेति नाराइणु कहिओ अम कंकर मारि बिदारे ।
मेरे ठाकुर कैसे अगनत उधारे ।
मोहि दीन अलप मति निरगुण परिओ सरणि दुआरे ।
बालमीकु सुधचारी तरिओ बधिक तरे बिचारे ।
एक निमख मन माहि अराधिओ गजपति धारि उतारे ।
कीनी रखिआ भगत प्रहलादे हरनाखस नखहि बिदारे ।
बिदरु दासी सुतु महजी पुनीता सगले कुल उधारे ।
कवन पराध बखानउ आपुने मिखिआ मोह अगमारे ।
आइओ सरम नानक ओट हरि की लीजै भुजा पसारे ।१"[1]

हे प्रभु ! तूने अनन्त जीवों को इस भवसागर से पार उतारा है । मैं मतिहीन, गुणहीन अब तेरी शरण में आया हूं । हे प्रभु ! तूने पांच वर्ष के बालक ध्रुव को नाम-स्मरण के कारण उच्च पदवी दी, और अजामिल को केवल अपने पुत्र नारायण का नाम लेने मात्र से ही यमदूतों से मुक्ति दिलाई । नाम-स्मरण से ही वाल्मीकि, तथा गज तो भवसागर से पार उतारा । प्रभु ने भक्त प्रहलाद की हरिण्यकश्यप से रक्षा की तथा अपनी कृपा से दासी-पुत्र विदुर को पवित्र कर दिया । हे प्रभु ! मैं अपने अपराधों को कैसे गिनाऊं । मैं आपकी शरण में आ गया हूं । अब मुझे उबार लो ।

भक्ति के प्रेरणा

भारतीय दर्शन मुख्य रूप से कर्मवाद की प्रतिष्ठा करता है। यही प्रतिष्ठा भारतीय जन-जीवन की क्रियता का मूल स्रोत रही है । गुरु अर्जुनदेव का भी यही विश्वास है कि भक्ति की ओर उन्मुख होने में पूर्वजन्म के कर्मों का बहुत योग होता है । इनका यह विश्वास निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है :—

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1-2, पृष्ठ 999

" जिन कउ पूरबि लिखिआ तिन का सदा गोविन्दु ।"[1]

xx xx xx xx

" सचे सेती रतिआ करमह बेसणु भाइ ।
करते हथि वडिआईआ पूरबि लिखिआ पाइ ।"[2]

जिन मनुष्यों के पूर्वजन्म के कार्य अच्छे होते हैं, उन्हीं को प्रभु की शरण मिलती है, और वे ही प्रभु का नाम स्मरण कर सकते हैं ।

" इहु संतन सिउ बणि आई । पूरबि लिखिआ पाई ।
इहु मनु तेरा भाई ।"[3]

xx xx xx xx

" हरि कीरति साध संगति है सिरि करमन के करमा ।
कहु नानक तिन भउजलु तरिआ जिसु पूरब लिखे का लहना ।"[4]

साधु-संगति की प्राप्ति भी मनुष्य के पूर्वजन्म के कर्मों पर ही आधारित है । यदि पूर्वजन्म के कर्म अच्छे हैं तो प्रभु-कृपा से उसे साधु-संगति की प्राप्ति होती है ।

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए जहाँ पूर्वजन्म के कर्मों का योग होता है, वहाँ वर्तमान काल के कर्म भी महत्वपूर्ण होते हैं । भक्ति के क्षेत्र में भगवत्कृपा का अत्यधिक महत्व है । जब तक भगवत्कृपा नहीं होती, तब तक व्यक्ति का मार्गनिर्देशन करने में समर्थ सच्चा गुरु नहीं मिल सकता । यह उसी को मिलता है, जिसपर भगवान की कृपा होती है —

" जां तुं तुसहि मिहरवान ता गुर का मंत्र चवाहि ।"[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-13, पृष्ठ 46
2 वही, महला 5, पद 4-28, पृष्ठ 52
3 वही, महला 5, पद 4-8-19, पृष्ठ 614
4 वही, महला 5, पद 8-3 पृष्ठ 641
5 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 317

भगवत्कृपा से ही भक्त में नाम-स्मरण की प्रेरणा और प्रतीति आती है —

" तुमरी कृपा ते जपीऐ नाउ । तुमरी किरपा ते दरगह थाउ ।"[1]

गुरु-कृपा से ही भगवत्प्राप्ति या उसकी ओर आसक्ति होती है । जब तक गुरु की कृपा नहीं होती, तब तक व्यक्ति हरि-विमुख बना रहकर अज्ञानांधकार में ही भटकता रहता है —

" माई गुर बिनु गिआनु न पाई रे ।
अनिक प्रकार भरत बिललाते मिलत नही गोसाँई रे ।
मोह रोग सोग तनु बाधिओ बहु जोनी भरमाई रे ।
टिकनु न पावै बिनु सत संगति बिनु आगै जाइ दुआई रे ।
करे अनुग्रह सुआमी मेरा साध चरन बिचु लाई रे ।
संकट घोर कटे खिन भीतरि नानक हरि हरसि समाई रे ।"[2]

स्पष्ट है कि अन्य निर्गुण संतों की भाँति गुरु अर्जुनदेव के हृदय में भी यह विश्वास विद्यमान है कि पूर्वजन्म के पुण्य कर्मों के द्वारा भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है । भगवत्कृपा से गुरु मिलता है और गुरु नाम देकर व्यक्ति को भगवान् की भक्ति की ओर प्रेरित करता है ।

अवरोधक शक्तियाँ

मनुष्य के मार्ग में अनेक ऐसे बाधक तत्त्व आते हैं जो उसे भगवदोन्मुख नहीं होने देते । इन बाधक तत्त्वों को अवरोधक शक्तियाँ भी कहा जाता है । ये शक्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट होती हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इन शक्तियों से भक्त को सजग रहने की अनेक स्थलों पर चेतावनी दी है । सांसारिक भोग-विलासों की ओर आकर्षित होनेवाला मनुष्य कभी भी भक्ति-मार्ग पर नहीं चल सकता । अतः ये उसे चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य सांसारिक भोग-विलासों

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-64, पृष्ठ 192

2 वही, महला 5, पद 2-82, पृष्ठ 532

की ओर आकृष्ट हो जाता है, उसकी कुशलता नहीं होती । वह इस झूठे लोभ में पड़कर अपना जन्म व्यर्थ ही नष्ट कर देता है और अपने गले में अंत के उस कठोर पाश को डाल लेता है जो उसे नष्ट करके ही छोड़ता है —

" किन बिधि कुसलु होत मेरे भाई । किउ पाईऐ हरि राम सहाई ।
कुसलु न गृहि मेरी सभ माइआ । ऊंचे मंदर सुंदर छाइआ ।
झूठे लालचि जनमु गवाइआ ।
इसती घोड़े देखि बिगासा । लसकर जोड़े नेब खवासा ।
गलि जेवड़ी हउमै के फासा । "[1]

मनुष्य के दुर्विचार भी उसकी साधना में बाधक होते हैं । जब तक उसके मन में काम, क्रोध, अहंकार, भ्रम आदि भाव विद्यमान हैं, तब तक वह दुखों से मुक्त नहीं हो सकता । ये विचार उसे मार्ग भ्रष्ट करते रहते हैं । यदि वह इनकी चिंता किये बिना हरि के स्मरण में लगा रहे तो उसे इनसे अवश्य मुक्ति मिल जाती है —

" कामि क्रोधि अहंकारि बिनुते । हरि सिमरनु करि हरि जन छूटे ।
सोइ रहे माइआ मद माते । जगत भगत सिमरत हरि राते ।
मोह भरमि बहु जोनि भवाइआ । असाधिक भगत हरिचरण धिआइआ ।"[2]

इन दुर्विचारों में, अन्य संतों की भाँति, गुरु अर्जुनदेव ने भी अहंकार और माया को सबसे अधिक प्रबल अवरोधक चित्त माना है और इनसे भक्तों को सचेत रहने की अनेक बार चेतावनी दी है । अहंकार ही तो वह गहन आवरण है जो मनुष्य को अपने हृदय में बसे परमात्मा के दर्शन नहीं होने देता । माया भ्रम का ऐसा भीषण जाल फैलाती है कि जो उसमें फँस जाता है, वह कहीं का भी नहीं रहता —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1-2, पृष्ठ 175

2 वही, पद 4-22-73, पृष्ठ 388

" किन विधि मिले गुसाई मेरे राम राइ ।
कोई ऐसा संतु सहज सुख दाता मोहि मारगु देत बताई ॥
अंतरि अलखु न जाई लखिआ विचि पड़दा हउमै पाई ।
माइआ मोहि सभो जगु सोइआ रहु बरमु कहहु किउ जाई ।"[1]

माया की निन्दा करते हुए उसको इन्होंने एक स्त्री के रूप में चित्रित किया है —

" माथे त्रिकुटी दुसटि करेर । बोले कउड़ा जिह्वा की फूहि ।
सदा भूखी फिरै दुरि ।
ऐसी इसत्री एक रामि उपाई ।
उनि सभु जगु खाइआ हम गुरि राखे मेरे भाई ।
पाइ ठगउली सभु जगु मोहिआ । ब्रह्मा बिसनु महादेउ मोहिआ ।
गुरमुखि नामि लगे से सोहिआ ।"[2]

अर्थात् इसके मस्तक पर त्रिकुटी है, (त्रिगुण अर्थात् सत्व, रज और तम) है । इसकी दृष्टि बड़ी क्रूर है । जिह्वा की फुरड़ होने के कारण सदैव कड़ुवे वचन बोलती है । यह सदैव भूखी रहती है, और प्रियतम को सदैव दूर समझती है । राम ने एक ऐसी स्त्री की रचना की है जिसने सारे जगत को खा लिया है, किंतु गुरू ने मेरी रक्षा की है । इसने अपनी 'ठगबुरि' से सारे संसार को वशीभूत कर लिया है । इसके प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं बच पाए हैं । जो भक्त नाम में अनुरक्त है, वही शोभनीय है ।

मनुष्य माया-मोह के अंधकूप में पड़कर परमात्मा को विस्मृत कर देता है, क्योंकि माया अपना पर्दा डाल कर जीव को प्रभु की ओर उन्मुख नहीं होने देती । इस प्रकार जीव को अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं —

" महा मोह अंध कूप परिआ
पार ब्रह्म माइआ पटलि विसरिआ ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1-1-122, पृष्ठ 204
2 वही, महला 5, पद 2-2-96, पृष्ठ 394
3 वही, महला 5, पद 3-11-16, पृष्ठ 805

कबीर ने भी माया के स्वरूप के कारण उसको अनेक नाम देकर उसका वैचित्र्य किया है।[1] डाकनी कहते हुए बताया है कि यह सब किसी को खा लेती है —

"कबीर माया डाकणी, सब किस ही कौ खाई"[2]

भक्ति के उपकरण

भक्ति-मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए साधक को अनेक साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। इन साधनों को उपकरण कहा जा सकता है। भक्ति की सिद्धि के लिए आदिकाल से ही अनेक प्रकार के उपकरणों का वर्णन होता आया है। संत-कवियों ने भी भक्तिक्षेत्र में इन उपकरणों की महत्ता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की है। गुरु और साधु-संगति भक्ति के प्रमुखतम उपकरण हैं जिनका संत-कवियों ने विशेष रूप से वर्णन किया है।

गुरु — भारतीय समाज में आदिकाल से ही गुरु का महत्व वर्णित होता आया है। उपनिषदों में तो गुरु की महत्ता अपेक्षाकृत अधिक विशद रूप में मिलती है। मुण्डकोपनिषद् में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है —

"उस नित्यवस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए
हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु
के पास जाना चाहिए"[3]

भक्ति के क्षेत्र में गुरु की महत्ता को श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है —

"इसलिए, तत्व के जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से, भली प्रकार
दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किए हुए
प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान। वे मर्म को जानने वाले ज्ञानी
जन, तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"[4]

---

1 (क) कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 168 (ख) वही, पृष्ठ 805
2 वही, पृष्ठ 34
3 " तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं॥" — मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक 1, खण्ड 2, मंत्र 12
4 तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥ — श्रीमद्भगवद्गीता, अ. 4, श्लोक 34

मध्ययुग के भक्ति-साहित्य में श्री गुरु की महत्ता की स्वीकृति मिलती है । 'असल में मध्ययुग के भक्ति-साहित्य में गुरु का स्थान बहुत बड़ा है । वैष्णव संतों के मत से गुरु दो प्रकार के हैं – शिक्षा गुरु और दीक्षा गुरु । शिक्षा गुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और सिद्धावस्था में शिक्षा गुरु भी भगवान् के ही तुल्य है ।'[1]

जब साधारण से साधारण कार्य को सीखने के लिए भी मनुष्य को गुरु की आवश्यकता होती है, तब आध्यात्मिक क्षेत्र के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन तो बिना गुरु के असम्भव ही है, इसीलिए भक्ति के क्षेत्र में गुरु का स्थान सर्वाधिक उच्च माना गया है । संतों ने भी माना है कि गुरु के बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती । गुरु नानकदेव ने कहा है कि गुरु के बिना कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । गुरु ही सच्चा मार्ग-दर्शक है, और वह ही शिष्य को भक्ति देने वाला है ।[2] अतः कर्म-मार्ग, योग-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग सभी क्षेत्रों में गुरु की महत्ता को निस्संकोच स्वीकार किया गया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी गुरु की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है —

"निरमल गुरु तिनि दीआ ताला कुंजी गुर सउपाई ।
अनिक उपाव खोजे नहीं पावै बिनु भगति गुर सरनाई ।"[3]

अर्थात् परमात्मा ने अपने गृह में ताला लगा दिया है, जिससे उसका रहस्य समझ में नहीं आता । ताला बन्द करने के पश्चात् उस परमात्मा ने चाबी गुरु के हाथों में सौंप दी है । उस गृह को खोलने के लिए अनेक उपाय किए जाएँ, पर कोई और उपाय सिद्ध नहीं हो सकता, बिना सद्गुरु की शरण में गए वह ताला नहीं खुल सकता, क्योंकि चाबी तो गुरु के हाथों में है । कहने का भाव यह है कि परमात्मा के रहस्यों का उद्घाटन केवल गुरु ही कर सकता है, या उसकी कृपा से यह कार्य सम्भव हो सकता है ।

---

1 हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 89
2 "गुरु बिनु किने न पाइओ, केती कहे कहाई ।
आदि बिचारे बाटड़ी, साची भगति दृढ़ाई ॥"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1
3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, वार 3, पृष्ठ 805

सिख-गुरुओं ने 'गुरु' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है - परमात्मा के रूप में[1] तथा मार्ग-दर्शक के रूप में।[2]

गुरु अर्जुनदेव ने श्री गुरु को परमात्मा का रूप माना है और कहा है कि गुरु और परमात्मा को एक ही जानना चाहिए —

"गुर परमेसर एको जानु।"[3]

---

1 (क) "गुरु देवा गुरु अलख अभेवा त्रिभवण सोझी गुर की सेवा।"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 1, पृष्ठ 1125

(ख) "जिउ सिधु साधु गुर ते उपजै।"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 3, पृष्ठ 753

(ग) "सति गुर विच आपि वरतदा हरि आपे राखण जोगु॥"
— श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 4, पृष्ठ 753

2 (क) "मे सउ चंदा उगवहिं सूरज चढ हि हजार।
एते चानण होदिआं गुर बिनु घोर अंधार।"
— श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 2, पृष्ठ 463

(ख) चहु वरनन जोगी सनिआसी बिनु गुर भरमि भुलाए।"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 3, पृष्ठ 67

(ग) "सतिगुर बिरादु भेटि मेरे गोबिन्दा हरि भेटे कवि रेवारी मीत॥"
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 4, पृष्ठ 174

3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, वार 4-6-8, पृष्ठ 864

गुरु की महिमा अवर्णनीय है, इसीलिए तो वेद भी उसका रहस्य नहीं समझ पाते। गुरु पारब्रह्म है, अपरम्पार है, उसके स्मरण से ही मन को शीतलता प्राप्त होती है —

" गुर की महिमा वेद न जानहि ।
कुछ भात सुनि सुनि बखानहि ।
पारब्रह्म अपरंपार सतिगुर ।
जिसु सिमरत मनु सीतलाइआ । "[1]

गुरु-महिमा वर्णनातीत है, अनिर्वचनीय है, क्योंकि गुरु पारब्रह्म का ही रूप है —

" गुर की महिमा कथनु न जाई ।
पारब्रह्म गुरु बोहिथ सभाई । "[2]

गुरु ही संसार का पालन करता है, वही मृत्यु के पश्चात् जीवनदान करता है। गुरु के गुण अपार हैं, तभी तो वे सर्वत्र परिलक्षित होते हैं —

" सतिगुर मेरा सरब प्रतिपाले सतिगुर मेरा मारि जीवाले ।
सतिगुर मेरे की वडिआई प्रगटु भई है समनी थाई । "[3]

इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न गुरु की शरण में जो व्यक्ति आ जाता है वह भाग्यशाली है, क्योंकि वह पारब्रह्म गुरु सर्वव्यापी है, मनुष्य को भवसागर से पार उतारने वाला है। ऐसा गुरु जिसके सिर पर हाथ रख देता है उसके निश्चय में दृढ़ता आ जाती है और गुरु उनको नाम-रूपी अमृत पिलाकर आवागमन के चक्कर से मुक्ति दिला देता है। इस प्रकार के गुरु-रूपी ब्रह्म की सेवा करने से सभी प्रकार के भय तथा दुखों का नाश हो जाता है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 10, पृष्ठ 1078

2 वही, महला 5, पद 4-6-8, पृष्ठ 864

3 वही, महला 5, पद 4-11-24, पृष्ठ 1142

" गुर बरणी जिन मनु लड़ा (ग) से वडभागी माइ ।
गुर दाता समरथु गुरु गुरु जम मंडि रहिआ समाइ ।
गुरु परमेसरु पारब्रहमु गुरु दुखदा लह लाइ (तराइ) ।
किंतु मुखि गुरु सालाहीऐ करण कारण समरथु ।
से मंदे निहचल रहे जिन गुरि धारिआ हथु ।
गुरि अमृत नामु पीआलिआ जनम मरन का पथु ।
गुरु परमेसरु सेविआ मै मंघन दुख लथु ॥ " [1]

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि तीर्थ-यात्रा द्वारा पापों से मुक्ति नहीं मिल सकती, कल्पवृक्ष भी मन की इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता । गुरु ही वास्तव में तीर्थ है, गुरु ही सच्चा कल्पवृक्ष है जो मनुष्य को नाम देकर उसकी मनोकामनाओं को पूर्ण करता है । गुरु ही सर्वगुण-सम्पन्न और निरंकार है । उसकी महिमा का वर्णन करना असम्भव है —

" गुरु तीरथु गुरु पारजातु गुरु मनसा पूरण सारु ।
गुरु सागरु हरि नाम दे उधरै सभु संसारु ।
गुरु समरथु गुरु निरंकारु गुरु ऊचा अगम अपारु
गुरु की महिमा अगम है किआ कथै कथन सारु । " [2]

ब्रह्म से विविध सम्बन्धों की स्थापना करना आदिकाल से ही चला आ रहा है । इन सम्बन्धों में ब्रह्म को माता, पिता, गुरु, सखा, आदि माना गया है । [3] गुरु अर्जुनदेव ने भी गुरु (ब्रह्म) से ऐसे ही सम्बन्धों की स्थापना करते हुए कहा है कि गुरु ही माता है, गुरु ही पिता है, गुरु ही स्वामी है, गुरु ही परमेश्वर है, गुरु ही सखा है, गुरु ही अज्ञान का नाश करने वाला है, गुरु ही बन्धु है और गुरु ही सहोदर है —

---

1 (क) श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-20, पृष्ठ 49
(ख) वही, महला 5, पद 9-1-14, पृष्ठ 1074
2 वही, महला 5, पद 4-29, पृष्ठ 52
3 त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणम त्वमेव । त्वमेव सर्वं मम देव देवा ॥

" गुरदेव माता गुरदेव पिता गुरदेव सुआमी परमेसुरा ।
गुरदेव सखा अगिआन भंजनु गुरदेव बंधिप सहोदरा ।"[1]

निम्नलिखित पंक्तियों में तो गुरु को स्पष्टतः ब्रह्म बताया गया है —

" गुरु मेरी पूजा गुरु गोबिंदु । गुरु मेरा पारब्रह्मु गुर भगवंतु ।
गुरु मेरा देउ अलख अभेउ । सरब पूजा चरन गुर सेउ ।"[2]

गुरु अर्जुनदेव ने 'गुरु' शब्द का प्रयोग मार्ग-प्रदर्शक व्यक्ति-विशेष के रूप में भी किया है । गुरु का लक्षण देते हुए इन्होंने बतलाया है कि जिस व्यक्ति ने सत्पुरुष (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही सतगुरु है —

" सति पुरखु जिनि जानिआ सति गुर तिस का नाउ ।"[3]

अन्य गुरुओं की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी गुरु के गुणों का तथा उसकी महत्ता का विस्तार से वर्णन किया है । इन्होंने लिखा है कि 'सच्चा गुरु अपने शिष्यों की सदैव पालना करता है और अपने सेवकों के ऊपर सदैव कृपालु बना रहता है । वह दुर्मति से शिष्य का निवारण करता है । गुरु अपने वचनों द्वारा शिष्य से प्रभु का पवित्र नाम जप कराता है । वह शिष्य के सारे बन्धनों को काटता है । गुरु का सच्चा शिष्य विकारहीन हो जाता है । गुरु अपने शिष्य को ज्ञान-धन देता है । वस्तुतः सच्चे गुरु का शिष्य अत्यंत भाग्यशाली होता है, क्योंकि उसके ऊपर गुरु की कृपा-छाया रहती है । सच्चा गुरु अपने शिष्यों के लोक-परलोक दोनों का ही सुधार करता है । सच्चा गुरु अपने शिष्यों की रक्षा अपने प्राणों की भाँति करता है —

" सतिगुर सिख की करे प्रतिपाला । सेवक कउ गुरा सदा दइआल ।
सिख की गुरु दुरमति मलु हिरै । गुर बचनी हरि नामु उचरै ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 250
2 वही, महला,5, पद 4-7-9, पृष्ठ 864
3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 286

सतिगुर सिख के बंधन काटे । गुर का सिखु विकार ते हाटे ।
सतिगुरु सिख कउ नाम धनु देइ । गुर का सिख वडभागी है ।
सति गुर सिख का हलतु पलतु सवारे ।
नानक सतिगुरु सिख कउ जीअ नालि समारे । "[1]

इसी प्रसंग में उन्होंने शिष्य के गुणों का भी उल्लेख कर दिया है, जो इस प्रकार है ।—

" गुर के मुखि सेवकु जो रहै । गुर की आगिआ मन महि सहै ।
आपस कउ करि कछु न जनावै । हरि हरि नामु रिदै सद धिआवै ।
मनु बेचै सतिगुर के पासि । तिसु सेवक के कारज रासि ।
सेवाकरत होइ निहकामी । तिसु कउ होस वरावसि सुआमी ।
अपनी क्रिपा तिसु आपि करेइ । नानक सो सेवकु गुर की मति लेइ ।"[2]

गुरु का सच्चा शिष्य (सेवक) वही है, जो उसकी आज्ञा का पालन करे, अहं-भाव को त्याग दे और सदैव प्रभु के नाम का स्मरण करता रहे । जो सेवक अपनी सभी इच्छाओं को त्यागकर गुरु की सेवा करता है, उसके सभी कार्य पूर्ण हो जाते हैं । सच्चे को गुरु की सेवा निष्काम-भावना से करनी चाहिए तभी उसे स्वामी (परमात्मा) की प्राप्ति हो सकती है । अतः उसे गुरु-चरणों को धोकर पीना चाहिए । गुरु के चरणों की धूलि में स्नान करना चाहिए । उसे गुरु का पंखा करना चाहिए, उसके घर का पानी भरना चाहिए तथा आटा पीसना चाहिए —

" गुरु के चरण धोइ धोइ पीवा
गुरु की रेणु नित मजनु करउ ।
जनम जनम की हउमै मलु हरउ ।
तिस गुर कउ सुलाघउ पाखा
मझा अगनि ते राखै राखा ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 286
2 वही, महला 5, पद 2, पृष्ठ 286

तिसु गुरु मै मुखि डोवउ पाणी ।
जिसु गुर ते अकल गति जाणी ।
तिसु गुर कै मुखि पीसअमीत ।
जिसु परसादि वैरी सम मीत ।"[1]

इस वर्णन में गुरु अर्जुनदेव नितरां लौकिक धरातल पर उतर आये हैं । यह इनकी यथार्थवादी दृष्टि का ज्वलंत प्रमाण है । गुरु की एक निष्ठ आराधना ही सेवक का काम होना चाहिए । यह आराधना कैसी हो, इसका वर्णन करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने कहा है —

" अंतरि गुरु आराधना जिह्वा जपि गुर नाउ ।
नेत्रो सतिगुर पेखणा, स्रवणी सुनना गुरनाउ । "[2]

अर्थात् अन्तःकरण से सद्गुरु की आराधना करनी चाहिए । जिह्वा से गुरु का जाप करना चाहिए । नेत्रों से प्रेम-भाव से सद्गुरु के दर्शन करने चाहिए । कानों से गुरु का शब्द सुनना चाहिए ।

वस्तुतः गुरु ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा आत्मा निर्मल होकर परमात्मा से मिलती है और अलौकिक आनन्द प्राप्त करती है । गुरु अर्जुनदेव ने अनेक छंदों में इसका विस्तार से वर्णन किया है । यथा —

" गुर परसादि नामि मनु लागा ।
जनम जनम का सोइआ जागा ।
अमृतु गुण उचरै प्रभ बाणी ।
पूरे गुर की सुमति पराणी । "[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-9, पृष्ठ 239-40

2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 517

3 वही, महला 5, पद 4-22, पृष्ठ 183

अर्थात् गुरु कृपा से ही मनुष्य ईश्वर-भक्ति में तल्लीन होता है, जिससे उसका जन्मजन्मांतर का अज्ञान नष्ट हो जाता है । जिस मनुष्य को गुरु की श्रेष्ठ मति प्राप्त होती है, वही प्रभु के गुणों का वर्णन कर सकता है और उसके निगूढ़ रहस्यों को समझ सकता है ।

सच्चे गुरु के दर्शन से ही जीव की तृष्णाग्नि शांत होती है और उसके अहंकार का नाश हो जाता है । गुरु की संगति से शिष्य का मन विषय-विकारों से भी विचलित नहीं होता और वह सदैव प्रभु के गुण-गान में लीन रहता है —

" सति गुर दरसनि अगनि निवारी ।
सतिगुर भेटत हउमै मारी ।
सतिगुर संगि नाही मन डोले ।
अमृत बाणी गुरमुखि बोले । "[1]

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि सच्चा गुरु मनुष्य को सांसारिक वासना से छुटकारा दिलाता है और उसको ईश्वर-भक्ति के लिए प्रेरित करता है —

" चरन कवल रिद अंतरि धारे । अगनि सागर गुरि पारि उतारे ।
बूड़त जात पूरै गुरि काढे । जनम जनम के टूटे गाढे ।
कहु नानक तिसु गुर बलिहारी । जिसु भेटत गति भई हमारी ।"[2]

गुरु की संगति में रहकर ही शिष्य का मन प्रभु का नाम स्मरण करता है । इससे उसके सभी कार्य पूर्ण हो जाते हैं । गुरु-कृपा से उसका अज्ञान रूपी अन्धकार मिट जाता है और उसे सहजानन्द की प्राप्ति हो जाती है —

" साधु संगि सिखाइओ नामु । सरब मनोरथ पूरन काम ।
तृसि गई तृसना हरि जसहि अघाने । जपि जपि जीवी सारिग पाने ।
करन करावन सरनि परिआ ।
गुर परसादि सहज सुख पाइआ मिटिआ अंधेरा चंदु चढ़िआ ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-27, पृष्ठ 184
2 वही, महला 5, पद 4-22, पृष्ठ 183
3 वही, महला 5, पद 4-56, पृष्ठ 191

गुरु-कृपा से आराधना पूरी होती है और सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। सकल मनोरथ पूर्ण होकर, अंत में, मुक्तावस्था तक पहुंचा देते हैं जहां निरंतर अनहद नाद होता रहता है --

" गुर पूरा अराधे । कारज सगले साधे ।
सगल मनोरथ पूरे । बाजे अनहद तूरे ॥ "[1]

यद्यपि गुरु अर्जुनदेव ने गुरु के स्वरूप एवं महत्ता का विस्तार से वर्णन किया है, पर इसमें कोई नवीनता नहीं है। पूर्ववर्ती संतों तथा गुरुओं ने इसका ऐसा ही वर्णन किया है।

साधु-संगति

भक्ति की साधना की सिद्धि में साधु-संगति का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसीलिए प्राचीन काल से ही साधु-संगति के महत्व का प्रतिपादन होता रहा है।[2] संत-कवियों ने साधु-संगति की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है। सत्संगति मानव के सभी कार्य सिद्ध कर देती है।[3] गुरु अर्जुनदेव ने भी प्रभु से प्रार्थना करते हुए साधु-संगति की कामना की है --

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-18-82, पृष्ठ 629

2 दुःसंग सर्वनाशे त्याज्यः ।
— नारद-भक्तिसूत्र 43

3 (क) कबीर संगति साध की, बेग करीजे जाइ ।
दुरमति दूर गंवाइसी, देसी सुमति बताई ॥
— कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ 38

(ख) जिउ छुहि पारस मनूर भए कंचन तिउ पतित जन,
मिलि संगती सुध होवत, गुरमती सुध साची ।
जिउ कास्ट संगि लोहा बहु तरता,
तिउ प्राणी संगि तरे साध साध-संगति बड़ सुनिगुर साची ।
— श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 4, पृष्ठ 312

" करहु कृपा करुणामये तेरे हरि गुन गाउ ।
नानक की प्रभ बेनती साध संगि समाउ । "[1]

साधु कौन होता है? इसके गुण बताते हुए उन्होंने लिखा है —

" चंदन अगर कपूर लेपन तिसु संगे नही प्रीति ।
बिसटा मूत्र डोबि तिसु तिसु मन न मनो बिपरीति ।
ऊच नीच बिकार सुकृत संसगन सम सुख छत्र ।
मित्र सत्रु न कछु जाने सरब नीअ समत ।
करि प्रगासु प्रचंड प्रगटिआ अंधकार बिनास ।
पवित्र अपवित्र किरण लागे मनि न भइआ बिखादु ।
सीत मंद सुगंध बलिओ सरक थान समान ।
जहा सा किछु तहा लागिओ तिसु न संक मान ।
सुभाइ अभाइ जु निकटि आवै सीतु ता का जाइ । "[2]

अर्थात् साधु-जन पृथ्वी की भाँति धैर्यशील और चंदन के समान शीतल होता है । वह आकाश के समान किसी से वैर-विरोध नहीं करता, वरन् सूर्य और वायु के समान सभी के साथ समान व्यवहार करता है और वह अग्नि के समान परोपकारी होता है ।

एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने साधु के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि परमात्मा का नामस्मरण जिसका मंत्र हो : जो प्रभु को सर्वव्यापी समझता हो, दुःख और सुख में समान भाव रखता हो, निर्मल और निर्वैर हो, परमात्मा के भजन को अपना भोजन समझता हो, माया से अलिप्त रहता हो, मित्र-शत्रु को समान भाव से देखता हो, पर-निन्दा की ओर ध्यान न देता हो और अहं को त्यागकर स्वयं को परमात्मा की चरण-धूलि समझता हो । जिस व्यक्ति में ये छः गुण हों, वही साधु कहलाता है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-3-43, पृष्ठ 745

2 वही, महला 5, पद 8-3, पृष्ठ 1018

" मंत्र राम राम नामं ध्यानं सरबत्र पूरनह ।
ज्ञानं सम सुख सुर्ख जुगति निरमल निरवैरयह ।
दयालं सरबत्र भोजा पंच दोख विवरजितह ।
भोजनं गोपाल कीरतनं अलप माइआ जल कमल रहत है ।
उपदेसं सम मित्र सत्र भगवंत भगति स्रवनी ।
पर निंदा नह स्रोति स्रवणं आपुत्यागि सगल रेणुकाह ।
घट लब्धन पूरनं पुरखह नानक नाम साध स्वजनह ।"[1]

जिस प्रकार गुरु अर्जुनदेव ने गुरु और परमात्मा को एक माना है, उसी प्रकार साधु और परमात्मा की अभेदता का भी वर्णन किया है —

" राम संत महि भेदु किछु नाहीं, एकु जन कई महिं लाख करोरि ।"[2]

संतों और परमात्मा में कोई भेद नहीं समझना चाहिए । ऐसा मनुष्य (संत) लाखों और करोड़ों में एक ही होता है ।

इसके अतिरिक्त सत् पुरुष के अर्थ में भी, गुरु अर्जुनदेव ने 'साधु' शब्द का प्रयोग करके साधु महिमा का विस्तार से वर्णन किया है । यथा —

" बैकुंठ नगरु तहाँ जहाँ संत निवासा ।
प्रभ चरण कमल रिद माहिं निवासा । "[3]

अर्थात् जिस स्थान पर संतों का निवास होता है, वह स्थान बैकुंठ के समान होता है क्योंकि उनके हृदय में हमेशा प्रभु के चरणों का ध्यान रहता है । साधु-संगति में रहने से प्राणी इतना भगवन्मय हो जाता है कि उसे प्रत्येक प्राणी भगवान् का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । फलतः उसका 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है । संसार में उसका न कोई शत्रु होता है और न कोई मित्र —

---

1 श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 40, पृष्ठ 1357
2 वही, महला 5, पद 4-13-134
3 वही, महला 5, पद 4-21-27, पृष्ठ 742

" बिसर गई सब तात पराई । जब ते साध संगति मोहि पाई ।
न को बैरी नहीं बिगाना सगल संगि हम कउ बनि आई ।
जो प्रेम कीनो सो मत मानिओ एहु सुमति साधु ते पाई ।
सभ महि रवि रहिआ प्रभ एकै पेखि पेखि नानक बिगसाई ।" [1]

साधु-संगति में रहकर ही मनुष्य के अज्ञान का नाश होता है । अज्ञान के नष्ट हो जाने पर वह हरि-गुणगान करता है, जिससे उसे सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का बोध हो जाता है । इस बोध से उसकी तृष्णाग्नि शान्त हो जाती है और वह आनंद से आप्लावित हो जाता है —

" साध सरनि वरन चितु लाइआ
सुपन की बात सुनी जैसो सुपना नाम मंत्र सतिगुर दृढ़ाइआ ।
नह तृपतानों राज जोबनि धनि बहुरि बहुरि फिरि धाइआ ।
सुकु धाइआ तृसना सम बूझी है संति पाई गुन गाइआ ।
बिनु बूझे पसु की निआई भ्रम मोहि बिआपिओ माइआ ।
साध संगि भ्रम जेवरी काटी नानक सहजि समाइआ । " [2]

संतों की चरण-धूलि से मनुष्य के कोटि कष्टों का विनाश हो जाता है, और उसे आवागमन से भी मुक्ति मिल जाती है। संतों का दर्शन मनुष्य के लिए सच्चा स्नान है क्योंकि संत-कृपा से ही वह नाम जपता है । संत-संगति के प्रभाव से मनुष्य का अहंकार नष्ट हो जाता है जिससे उसे समस्त पदार्थ प्रभुमय दिखाई देने लगते हैं । जिस मनुष्य को साधु के चरण मिल जाते हैं, वह बहुत ही भाग्यशाली होता है । वह उन चरणों की सेवा करके साधुओं को प्रसन्न कर लेता है और पाँचों कामादिक विकारों को वश में करके अपने हृदय में नाम-धन को संचित कर लेता है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-8, पृष्ठ 1299

2 वही, महला 5, पद 2-10, पृष्ठ 1300

"संत की धूरि मिटे अघ कोट । संत प्रसादि जनम मरण ते छोट ।
संत का वरसु पूरन इसनानु । संत कृपा ते जपि हरि नामु ।
संत ने संगि मिटिआ अहंकारु । दुसटि आवे सभु एकंकारु ।
संत सुप्रसन आए वसि पंचा । अमृतु नामु रिदे ते संचा ।
कहु नानक जा का पूरन करम । तिसु भेटे साधू के चरन ।"[1]

साधु-संगति से मन का संतुष्य नष्ट हो जाता है और त्रिविध ताप भी क्षीण हो जाते हैं —

1 "मन की काटीऐ मैलु साध संगि वुठिआ ।"[2]
2 "दीन दइआल कृपाल प्रभ नानक साध संगि मेरी जलनि बुझाई ।"[3]

साधु-संगति से भगवान् का अनुग्रह मिलता है जिसके बल पर मनुष्य उन कार्यों को भी सफलतापूर्वक सम्पादित कर लेता है जिन्हें साधारण जन विलक्षण मानते हैं । इन विलक्षण कार्यों का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इस प्रकार किया है —

"
पिंगल परवत पारि परै खल चतुर वकीता ।
अंधुले त्रिभुवन सूझिआ गुर भेटि पुनीता ।
महिमा साधु संग की, सुनहु मेरे मीता ।
मैल कोई कोटि अघि हरै निरमल भए चीता ।
ऐसी भगति गोविंद की कोटि इसनो जीता ।
जो जो कीनो आपनो तिसु अभै दानु दीता ।
सिंधु बिताइ छोह गइओ तृणु मेरु दिखीता ।"[4]

अर्थात् साधु-संगति की शक्ति से पंगु व्यक्ति भी पर्वत पार कर लेता है, मूर्ख अर्थात् चतुर बन जाता है, अंधा सभी पदार्थों को देखने लगता है । साधु-संगति से मनुष्य के मन की सारी कालिमा दूर हो जाती है । साधु-संगति से ही ऐसी

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-46, पृष्ठ 189
2 वही, महला 5, पद 9, पृष्ठ 520
3 वही, महला 5, पद 4-1-118, पृष्ठ 804
4 वही, महला 5, पद 4-7-57, पृष्ठ 809

भगवद् भक्ति की शक्ति प्राप्त होती है जिससे चींटी भी हाथी पर विजय पा लेती है, भगवान् अपनी शरण में लेकर अभयदान दे देते हैं । सिंह बिल्ली बन जाता है और सुमेरु पर्वत तृण के समान दिखाई देने लगता है ।

संत-कवियों ने 'संत' और 'साधु' शब्दों का पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया है । निम्नलिखित पंक्तियों में गुरु अर्जुनदेव ने भी इसी परम्परा का पालन किया है —

" हरि का संतु परान धन तिस का पनिहारा ।
भाई मीत सुत सगल ते मीत है ते पिआरा ।
केसा का करि बीजना संत चंउरु दुलावउ ।
सीसु निहारउ चरण तलि धूरि मुखि लावउ ।
मिसट बचन बेनती करउ दीन को निआई ।
तजि अभिमानु सरणी परउ हरि गुण निधि पाई ।
अवलोकन पुनह पुनह करउ मन का वरतारु ।
अमृत बचन मन महि सिंचउ बंदउ बार बार । "[1]

संत हरि के प्राण होते हैं । ऐसे संतों का पनिहारा भी अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है । भ्राता, मित्र, सुत, और अपने प्राणों से भी अधिक संत को समझना चाहिए । अपने केशों का पंखा बनाकर उनसे हवा करनी चाहिए । अपने सिर को सदैव उनके चरणों में रखना चाहिए और उनके चरणों की धूल को शिरोधार्य करना चाहिए । दैन्य भाव से उनकी प्रार्थना करनी चाहिए । अहंकार का त्याग करके उनके प्रति आत्मसमर्पण, उनका बार-बार दर्शन और उनके अमृत वचनों से बार-बार मन को सींचना चाहिए ।

इनके अतिरिक्त, गुरु अर्जुनदेव ने अनेक अन्य पदों में भी साधु-महिमा का वर्णन किया है । साधु-महिमा से सम्बद्ध इनके विचारों को एकत्र रूप में

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-2-42, पृष्ठ 745

'सुखमनी साहब' में देखा जा सकता है । जिसका सारांश यह है — साधु संग से सारे कामुकों और अहंकारों का नाश होता है । इसी के ज्ञान-प्राप्ति होती है और परमात्मा निकटस्थ प्रतीत होता है । इससे सारे बंधनों से निवृत्ति होती है और नाम-रूपी रत्न की प्राप्ति होती है । सारे उपायों में से यही उपाय श्रेष्ठ है । इसी से क्षमादिक वशीभूत होते हैं और अमृत-रस की प्राप्ति होती है । अत्यन्त विनयशीलता भी इसी से प्राप्त होती है । साधु-संग से माया के आकर्षण समाप्त हो जाते हैं, सारी दौड़-धूप भी समाप्त हो जाती है और भाव-स्थैर्य आ जाता है । साधु-संग से सारे शत्रु मित्र हो जाते हैं, कोई भी बुरा दिखाई नहीं देता । साधु-संगति के द्वारा ही नाम की प्राप्ति होती है जिससे प्राणी परमात्मा के महल में पहुँच जाता है । साधु-संग सारे मित्रों और कुटुम्बियों का उद्धारक है । इसी से सारे पापों की निवृत्ति होती है और सारे स्थानों में गमन किया जा सकता है । साधु-संगति से सारी इच्छाओं की पूर्ति होती है । साधु-संगति से प्रभु का सच्चा और आज्ञाकारी सेवक बना जा सकता है । साधु-संगति की महिमा का वेद भी वर्णन नहीं कर सकते । वस्तुतः साधु इतना महान् है कि उसमें और परमात्मा में तनिक भी भेद नहीं होता ।[1]

भक्त
भक्ति महिमा

भक्ति के क्षेत्र में भक्त के गुणों का भी उल्लेख संत-कवियों ने किया है, क्योंकि भक्ति के विवेचन में भक्त के स्वरूप का विवेचन भी प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में होता रहा है । भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया गया है — आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ।[2] इनमें

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 7, पृष्ठ 271-272

2 "आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।"
— श्रीमद्भगवद्गीता, 7-16

ज्ञानी ही उच्च कोटि के भक्त माने गए हैं क्योंकि ये परमेश्वर का ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जाने से अति रिक्त अधिक कुछ नहीं चाहते । ये निष्काम भाव से भक्ति करने वाले होते हैं ।[1] इसी ग्रन्थ में भक्त के अनेक गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है —

" जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब जीवों के साथ मित्रता से बरतता है, जो कृपालु है, जो ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है, जो सदा संतुष्ट, संयमी तथा दृढ़ निश्चयी है जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा (कर्म) योगी भक्त मुझको प्यारा है । जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है, और न जो लोगों से क्लेश पाता है ; ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अतिप्त है, वही मुझे प्रिय है । मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है — अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़कर करता है — जो उदासीन है, जिसे कोई भी विकार हिला नहीं सकता और जिसने (काम्यकर्मके) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिए हैं । जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है ; जो न शोक करता है, और न इच्छा रखता है, जिसने शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिए हैं ; वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है । जिसे शत्रु और मित्र — मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं ; और जिसे किसी में भी आसक्ति नहीं है, जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जावे उसी में सन्तुष्ट है जो अनिकेत है अर्थात् जिसका ठिकाना (कर्म फलाशा रूप) कहीं भी नहीं रह गया है वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्यारा है ।[2]

---

1 " तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ "
—— श्रीमद्भगवद्गीता, 7–17

2 श्रीमद्भगवद्गीता : 12–13 से 20 तक .

संत-कवियों ने भी भक्त महिमा का विस्तार से वर्णन किया है । कबीरदास के अनुसार भक्त को भावना से रहित निष्काम भगवद प्रेमी सांसारिक विषयों से उदासीन आदि गुणों से युक्त होता है ।[1]

संत-कवियों को भक्त का ज्ञानी भेद ही स्वीकार्य रहा है, इसीलिए इन्होंने ज्ञानी अथवा ब्रह्म ज्ञानी के गुणों का विशद् वर्णन किया है । गुरु अर्जुनदेव के अनुसार ब्रह्मज्ञानी निर्लिप्त, निर्दोष, समदृष्टा धैर्यशील, पावक स्वभाव से युक्त, अत्यन्त निर्मल, ज्ञान से युक्त, शत्रु मित्र में समभाव रखने वाला, अभिमान रहित, विनयशील, ब्रह्मानन्द में लीन, समदर्शी, बन्धनमुक्त अनश्वर, परोपकारी आदि गुणों से पूर्ण होता है ।[2अ] भक्त के लिए जाति पाँति का बन्धन कबीर[2आ] आदि संत कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी स्वीकार नहीं किया है —

"हरि का दासनीच कुल उधा तिसु संगि मन बांछत फल पाइआ ।"[2आ.]

भक्त की महिमा का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने दो विधियों से किया है, प्रत्यक्ष विधि से और परोक्ष विधि से । प्रत्यक्ष विधि में इन्होंने स्पष्ट शब्दों में भक्त की महत्ता का वर्णन किया है । यथा —

" हउ ताके बलिहारी जाके केवल नामु अधारी ।
महिमा ता की केतक गनीऐ जन पारब्रह्म रंगि राते ।
सुख सहज आनंद तिना संगि उन समसरे अवर न दाते ।
जगत उधारण सेई आए जो जन दरस पिआसा ।
उनकी सरणि परे सो तरिआ सतसंगि पूरन आसा ।"[3]

---

1 कबीर ग्रन्थावली – पृष्ठ 39

2अ श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 272-274 ॥ 8 ॥

2आ "जाति पाँति पूछै नहिं कोई हरि को भजै सो हरि को होई ।"
—— कबीरदास – कबीर ग्रन्थावली

2आ. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-6-7, पृष्ठ 497

3 वही, महला 5, पद 4-10-131, पृष्ठ 207

अर्थात् जिसका आधार केवल परमात्मा का नाम है, मैं उस भक्त पर न्यौछावर होता हूँ । जो भक्त पारब्रह्म के प्रेम में रँगा हुआ है, उसकी महिमा वर्णनातीत है । भक्त के समान और कोई नहीं है । क्योंकि उसकी संगति से सहज सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है, और उनके शरण में पड़ने से ही सम्पूर्ण आशाएँ पूर्ण हो जाती हैं ।

परोक्ष विधि में इन्होंने भक्त-महिमा का स्पष्ट उल्लेख न करके प्रकारान्तर से इनका महत्व वर्णित किया है । भक्तों को कष्ट देने वाले लोगों की निन्दा इसी विधि का प्रमाण है । यथा —

"संत के दूखनि आरजा घाटै । संत के दूखनि जम ते नहीं छुटै ।
संत के दूखनि सुखु सभु जाइ । संत के दूखनि नरक महिपाइ ।
संत के दूखिन मति होई मलीन, संत के दूखनि सोभा ते हीन ।
संत के हते कउ रखै न कोउ । संत के दूखनि थान भ्रसटु होइ ।
संत कृपाल कृपा जो करै । नानक संत सीं निंदकु भी तरै ।"[1]

अर्थात् संतों की निन्दा करने से मनुष्य का जीवन व्यर्थ जाता है, इसे यमदूतों से छुटकारा नहीं मिलता, सभी सुखों का नाश हो जाता है तथा उसे नारकीय जीवन मिलता है । संतों के निन्दकों की बुद्धि मलिन हो जाती है, और उसका मान कम हो जाता है । संत जिसको अपने से दूर कर देते हैं उसको कोई मनुष्य सहारा नहीं दे सकता । यदि संत अपनी कृपा-दृष्टि रखें, तो संतों के साथ-साथ निन्दक भी तर जाते हैं ।

सारांश

मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति है । इसके लिए चार मार्गों का विधान है – योग-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग । इन मार्गों में अपनी सरलता एवं सुगमता के कारण भक्ति-मार्ग ही अधिक ग्राह्य रहा है ।

---

1. श्री गुरुग्रंथसाहिब, महला 5, पद 13, पृष्ठ 879

भक्ति के भी दो भेद हैं – वैधी-भक्ति और प्रेमाभक्ति । वैधी-भक्ति में विधि-विधानों की अधिकता तथा जटिलता होती है, इसीलिए प्रेमाभक्ति को ही संतों तथा भक्तों ने प्राथमिकता दी है । गुरु अर्जुनदेव ने भी वैधी-भक्ति के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करके प्रेमाभक्ति को ही स्वीकार किया है और इसी का विस्तृत वर्णन किया है ।

नारद-भक्ति-सूत्र में प्रेमाभक्ति का विवेचन करते हुए ग्यारह आसक्तियों का वर्णन किया गया है – गुणमहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति । गुरु अर्जुनदेव ने इन सभी आसक्तियों का वर्णन किया है । गुणमहात्म्यासक्ति के अन्तर्गत इन्होंने परमात्मा के विविध गुणों का और उसकी महानता का वर्णन किया है । परमात्मा के गुण ही भक्त की भावना में आस्था एवं निष्ठा उत्पन्न करके उसे भवसागर से पार उतारते हैं, उसके मन का कालुष्य मिटाकर उसे सच्चा भक्त बनाते हैं । रूपासक्ति में परमात्मा के विविध रूपों का वर्णन होता है । गुरु अर्जुनदेव मूलतः ज्ञानमार्गी और निर्गुणोपासक हैं, अतः इनकी रूपासक्ति में परमात्मा के उन विविध तथा मनोहारी रूपों का, उनके अंग-प्रत्यंग का, वैसा स्थूल वर्णन नहीं मिलता जैसा कृष्णभक्त-कवियों ने किया है । परमात्मा के रूप की अपेक्षा ये उसके गुणों के द्वारा ही उसके रूप का संकेत देते हैं । यही कारण है कि इनकी रूपासक्ति में सगुणता का अभाव है । इनकी पूजासक्ति भी उस पूजासक्ति से भिन्न है जो ब्रह्म के सगुण रूप को मानकर धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा के उपकरणों से की जाती है । जिस प्रकार इनकी भक्ति केवल भावात्मक है, उसी प्रकार इनकी पूजासक्ति भी भावात्मक होने के कारण सूक्ष्म है । स्मरणासक्ति में नाम-स्मरण की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की गई है । संत-कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी यह स्वीकार किया है कि नाम-स्मरण के द्वारा मनुष्य को सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के फलों की सहज ही उपलब्धि हो जाती है । दास्यासक्ति और सख्यासक्ति में परमात्मा के साथ भक्त दास और सखा के सम्बन्ध मानकर उसकी भक्ति करता है । यद्यपि गुरु अर्जुनदेव मूल रूप से

निर्गुणोपासक हैं, तथापि इनकी भक्ति-भावना में इन आसक्तियों का अत्यंत सरस वर्णन मिलता है। यह वर्णन इनके भक्त-हृदय का परिचायक है। कांतासक्ति में कांता-भाव का वर्णन वैविध्यपूर्ण होते हुए भी अपेक्षित मधुरता तथा सजीवता से सम्पृक्त नहीं हो पाया है। फिर भी इस सम्बन्ध के माध्यम से इन्होंने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति की है, वे पर्याप्त प्रभावपूर्ण हैं। वात्सल्यासक्ति में इन्होंने अधिकांशतः परमात्मा का ही पिता-रूप में वर्णन किया है। तन्मयतासक्ति में इन्होंने अपने प्रभु के प्रति जिस समर्पण का वर्णन किया है, वह तो इनके भक्त-हृदय का प्रमाण है, परन्तु तन्मयता की वैसी स्थिति का वर्णन इन्होंने नहीं किया, जैसा कबीर आदि संत-कवियों में या सूरदास आदि भक्त-कवियों में मिलता है। परमविरहासक्ति के अन्तर्गत इन्होंने विरह का जो वर्णन किया है, उसमें यत्र-तत्र बौद्धिक योग होने से भावमयता की मधुरा धारा क्षीण हो गई है। फलतः इनके विरह-वर्णन में अपेक्षित मार्मिकता का अभाव है। इनका विरह-वर्णन अनुभूत न होकर बुद्धिजन्य ही अधिक है। आत्मनिवेदनासक्ति में भक्त का दैन्य-भाव प्रभविष्णुता लेकर व्यक्त हुआ है।

भक्ति के सोपानों का वर्णन करते हुए इन्होंने पूर्वजन्म के कर्मों को विशेष महत्व दिया है। इन्हीं कर्मों से प्रेरित होकर जीव भगवदोन्मुख होता है और उसे भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है। भगवत्कृपा से ही भक्त में नाम-स्मरण की प्रेरणा जागृत होती है। भक्त के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं जिन्हें अवरोधक शक्तियाँ कहा जाता है। इनमें अहंकार और माया प्रमुख हैं। गुरु अर्जुनदेव ने अवरोधक शक्तियों का प्रभावशाली तथा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।

भक्तों ने भक्ति-मार्ग की इन बाधाओं का निराकरण करने के अनेक साधन बताये हैं जो भक्ति के उपकरण कहलाते हैं। इन उपकरणों के अन्तर्गत गुरु अर्जुनदेव ने गुरु और साधु-संगति का वर्णन किया है। संत-कवियों की भाँति इन्होंने भी 'गुरु' शब्द को 'परमब्रह्म' और 'व्यक्ति-विशेष' के रूप में प्रयुक्त किया है। गुरु की महिमा का इन्होंने विस्तार से वर्णन करते हुए बताया है कि गुरु ही मनुष्य के सब बन्धनों को मिटाकर उसे ब्रह्म से मिलाने में समर्थ है। इसीलिए

तो गुरु-महिमा वर्णनातीत है । शिष्य के गुणों का भी इन्होंने वर्णन किया है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति गुरु-पद को प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति शिष्य बनकर गुरु-कृपा का अधिकारी नहीं हो जाता । 'गुरु' की भाँति 'साधु' शब्द का भी इन्होंने दो अर्थों में प्रयोग किया है और साधु-महिमा का भी विस्तार से वर्णन किया है ।

भक्त चार प्रकार के होते हैं - आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी । इन्होंने ज्ञानी भक्त को ही विशेष महत्व दिया है और इसी की महत्ता का सविस्तार वर्णन किया है ।

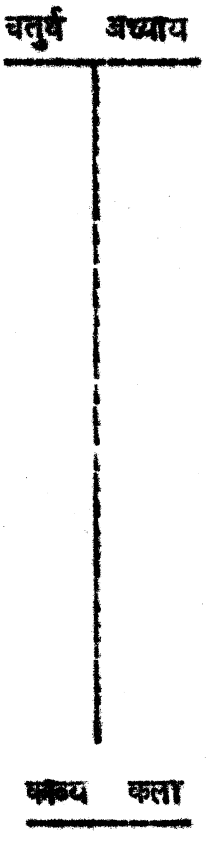
चतुर्थ अध्याय
काव्य कला

काव्य - कला

गुरु अर्जुनदेव युग-पुरुष थे । इनके व्यक्तित्व में विविध गुणों का समन्वय था । समाज सुधारक, भक्त और सम्पादक के अतिरिक्त ये उच्च कोटि के कवि भी थे । इनका काव्य काव्यकला के अपेक्षित गुणों से सम्पृक्त है । इनकी काव्यकला का विवेचन करने से पूर्व काव्य के स्वरूप पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है । संस्कृत और उनके अधिकांशतः अनुकरण पर हिन्दी के आचार्यों ने काव्य के स्वरूप का विस्तृत और बहुमुखी विवेचन किया है । इस विवेचन को प्रबन्ध तथा काव्य गुणों की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रबन्ध की दृष्टि से काव्य के दो भेद होते हैं - प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य । प्रबन्ध काव्य में पदों का पूर्वापर - सम्बन्ध होता है, अर्थात् वे एक दूसरे से बँधे हुए होते हैं । इसके विपरीत, मुक्तक काव्य में पद इस बन्धन से मुक्त होते हैं, उनमें पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं होता । संत-कवियों ने काव्य-रूप की दृष्टि से मुक्तक काव्यरूप को ही ग्रहण किया है । प्रबन्धकाव्य ये अपना भी नहीं सकते थे, क्योंकि प्रभावान्विति के लिए ऐसे ही पदों की आवश्यकता होती है जो स्वतः पूर्ण हों, मुक्तक हों । गुरु अर्जुनदेव ने

भी मुक्तक काव्य में ही अपनी वाणी प्रस्तुत की है ।

काव्य-गुणों की दृष्टि से काव्य का जो विवेचन हुआ है वह अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर एवं विस्तृत है । इस विवेचन के स्थूलतः दो वर्ग हैं । एक, जिसमें काव्य के केवल आन्तरिक गुणों का समावेश है । दूसरा, जिसमें आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के गुणों का उल्लेख है । आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत आचार्य प्रथम वर्ग के और भामह, मम्मट आदि द्वितीय वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं । इसीलिए विश्वनाथ और जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण में केवल रस का[1] और आचार्य भामह, मम्मट आदि ने काव्य के आन्तरिक गुणों का संकेत देते हुए काव्य के बाह्य गुणों का भी उल्लेख किया है । आचार्य भामह ने विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य माना है ।[2] आचार्य मम्मट ने उस शब्दार्थ को काव्य बताया है जिसमें अदोषता, सगुणता और कभी-कभी अलंकारिकता भी होती है ।[3] यदि इन आचार्यों की काव्य-परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाए तो सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि शब्दार्थ काव्य के बाह्य गुण हैं जो अपनी विशिष्टता के कारण काव्य के आन्तरिक गुणों का (वक्रोक्ति, रस या ध्वनि का) उत्कर्ष करते हैं । इससे स्पष्ट है कि काव्य के दो प्रमुख अंग हैं - आन्तरिक गुण या भावपक्ष -- बाह्यगुण या कलापक्ष । भावपक्ष या अनुभूति पक्ष

---

1 (क) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्
— साहित्यदर्पण, 1-3
(ख) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।
— रसगंगाधर, 1-1

2 शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्
— काव्यालंकार, 1-16

3 तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।
— काव्यप्रकाश, 1-4

काव्य का मूल तत्व है । इस तत्व की अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं । इन साधनों को ही कलापक्ष या अभिव्यक्ति पक्ष के नाम से अभिहित किया जाता है । काव्य की सफलता न केवल अनुभूति पक्ष पर आधारित होती है और न केवल अभिव्यक्ति पक्ष पर, वरन् इन दोनों के समुचित समन्वय में ही सफल काव्य की सत्ता निहित है । यही कारण है कि सफल महाकवियों की कृतियों में ये दोनों पक्ष समान गरिमा से मंडित होते हैं ।

रस योजना

भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य के वर्ण्य-विषय से है । अतः इसका विश्लेषण करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - भाव और रस । जिस प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष का परस्पर अटूट सम्बन्ध है, उसी प्रकार भाव और रस भी अविच्छिन्न रूप से संग्रथित होते हैं ।[1] मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भाव उन विकारों का समूह है जो बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में उठते हैं, किंतु साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भावों से भिन्न होते हैं । अतः साहित्य में मनोविज्ञान की यह परिभाषा स्वीकार नहीं की जा सकती । साहित्य के भाव मन के वे विकार हैं जिनमें सुख-दुखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है, अर्थात् जो मुख (चेहरा) नेत्र और वाणी के द्वारा मन की बात, प्रकट करते हैं । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि देव आदि विषयक रति सामग्री के अभाव में उद्बुद्ध मात्र अर्थात् रस-रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव और प्रधानता से व्यंजित निर्वेदादि संचारी को भाव कहते हैं ।

व्याकरण में 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गई है - 'सरते इति रसः' अर्थात् जो बहे वही रस है । यही रस के द्रव्यत्व और

---

1. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
   — भरतमुनि । नाट्यशास्त्र 6-37

बहने का गुण माना है । 'रस्यते इति रसः' अर्थात् जो आस्वादित किया जाए, वही रस है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस के चार प्रकार भारतीय वाङ्मय में बताए गए हैं - पकवानों का रस, जैसे खट्टा, मीठा, कड़वा आदि, आयुर्वेद का रस, जैसे - पारद आदि, साहित्य अथवा काव्य का रस । और भक्ति या मोक्ष का रस । काव्य में जिसे रस कहते हैं, वह उपर्युक्त प्रथम तीनों रसों से भिन्न होता है । भक्ति या मोक्ष रस अवश्य उससे कुछ मिलता-जुलता है । काव्य के रस से तात्पर्य है — काव्यानन्द । अर्थात् काव्य के पढ़ने से या सुनने से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वही काव्य का रस कहलाता है । यह आनन्द लौकिक आनन्द से भिन्न होता है, इसीलिए इसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है । अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति से जिस प्रकार के अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है वैसी ही काव्य के पढ़ने या सुनने से भी होती है । इसी आधार पर काव्यानन्द को ब्रह्मरस माना गया है ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने काव्य रस को सत्व का उद्रेक करने वाला, अखंड, स्व-प्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर, स्पर्श-शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर और लोकोत्तर-चमत्कार प्राण माना है ।[2] अधिकांश आचार्यों ने रस के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है ।

---

1 रसो वै सः ।

— तैत्तिरीयोपनिषद्, 2·7—2

2 सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः केनिश्चत्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।

— साहित्यदर्पण, 3—2, तथा 3

रस-संख्या के विषय में आचार्यों का मतभेद रहा है । आचार्य भरत ने आठ रसों का विवेचन किया है, किन्तु नवम रस (शान्त रस) का भी संकेत दे दिया है ।[1] कालान्तर में रस-संख्या में वृद्धि हुई है और आधुनिक काल में यह संख्या ग्यारह तक पहुँच गई है - शृंगार रस, हास्य रस, करुण रस, रौद्र रस, वीररस, भयानक रस, बीभत्स रस, अद्भुत रस, शान्त रस, वात्सल्य रस और भक्ति रस ।

गुरु अर्जुनदेव मूलतः भक्त हैं, भक्ति सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति इनका मुख्य प्रतिपाद्य है और कविता इस को अभिव्यक्त करने का साधन । इसीलिए इनका काव्य आद्य से इति तक भक्ति-भावों से ओतप्रोत है । भक्ति का दर्शन से भी अटूट सम्बन्ध है, अतः भक्ति-भाव के साथ-साथ दार्शनिक विचारधारा भी इनके काव्य में आद्योपान्त है । भक्ति परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण समर्पण है और इस समर्पण की भावना व्यक्ति में तभी जाग्रत होती है जब उसे संसार की अनित्यता, जीवन की क्षण-भंगुरता, आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान आदि हो जाता है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में इन्हीं विषयों की प्रधानता है, किन्तु अन्य विषय भी इनके साथ संग्रथित हैं । अतः कहा जा सकता है कि यद्यपि शान्तरस तथा भक्तिरस इनके काव्य के मुख्य रस हैं, तथापि अन्य रसों को व्यंजित करने वाले भाव भी इनके काव्य में सहज ही मिल जाते हैं ।

(1) शान्त रस -- संस्कृत-काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि ने आठ रसों का विवेचन करने के उपरान्त नवम् रस शांत रस का भी स्पष्टतया उल्लेख किया है[2] और रति आदि आठ स्थायी भावों का शम स्थायी भाव में

---

1 नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण - 32-33

2 "अतः शान्तोनाम ---- । मोक्षाध्यात्म समुत्थ ---- शान्त रसो नाम सम्भवति । ---- । एव नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्वितः ।"

— नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण 324-33

विषय होने के कारण इस रस को सर्वोपरि भी माना है ।[1] किन्तु परवर्ती आचार्यों में शान्त रस की स्थिति विवादास्पद ही बनी रही । आचार्य मम्मट तक आते-आते यह विवाद शिथिल हो गया और शान्त रस को नवम रस स्वीकार कर लिया गया ।[2] इस रस का सर्वाधिक स्पष्ट विवेचन साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने किया है । इनके अनुसार, शान्तरस की प्रकृति उत्तम, स्थायी भाव शम, कुन्देन्दु वर्ण तथा देवता श्री नारायण हैं । संसार की अनित्यता, वस्तुजगत् की निस्सारता और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान इसके आलम्बन हैं । भगवान के पवित्र आश्रम तीर्थ, स्थान, रम्य एकान्त वन तथा महापुरुषों का सत्संग उद्दीपन हैं । अनुभाव रोमांच आदि और संचारियों में निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, उन्माद तथा प्राणियों पर दया की गणना की जा सकती है ।[3] गुरु अर्जुनदेव के काव्य में शान्तरस के उदाहरणों का प्राचुर्य स्वाभाविक ही है । यथा —

---

1 स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।
— नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण 324-33

2 शान्तोऽपि नवमो रसः
— काव्य प्रकाश 4-35

3 शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिः सारता तु या ॥
परमात्मतत्त्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रमतीर्थक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥
महापुरुषसंमाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिमुत्तदयादयः ।
— साहित्यदर्पण, 245-259

" प्रीति लगी तिसु सचु सिउ मरै न आवै जाइ ।
ना वेछोड़िया विछुड़े सभ महि रहिआ समाइ ।
दीन दरद दुख भंजना सेवक के सतभाई ।
अबरजु रूपु निरंजनो गुरि मेलाइआ माइ ।
भाई रे मीतु करहु प्रभु सोइ ।
माइआ मोह परीति दुगु सुखीन दीसै कोइ । "[1]

इस पद में मन के उस निर्वेद भाव का वर्णन है जो अजर और अमर तथा सर्वव्यापक परमात्मा से ही प्रीति करता है। सांसारिक विषय-वासना जिसके लिए त्याज्य है और जो यह जानता है कि सांसारिक माया-मोह तथा प्रीति में पड़कर कोई भी सुखी नहीं हो सकता । यही निर्वेद स्थायी भाव है, सांसारिक दुःखी प्राणी तथा परमात्मा का दीनों के प्रति करुण भाव उद्दीपन विभाव हैं और हर्ष, विषाद आदि संचारी भाव हैं ।

" बिसरि गई सभ तांति पराई । जब ते साध संगति मोहि पाई ।
ना को बैरी नहीं बिगाना । सगल संग हम कउ बनि आई ।
जो प्रभ कीनो सो भल मानिओ । एहु सुमति साधू ते पाई ।
सभ महि रवि रहिआ प्रभ एकै पेखि पेखि नानक बिगसाई ।[2]

इसमें भी निर्वेद स्थायी भाव, साधु-संगति उद्दीपन विभाव और हर्ष आदि संचारी भाव होने के कारण शान्त रस है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इनका सम्पूर्ण काव्य ही शान्त रस का काव्य है । अतः इस रस के प्रचुर उदाहरण इनके काव्य में मिलना स्वाभाविक ही है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 14-13, पृष्ठ 46

2 वही, महला 5, पद 2-3, पृष्ठ 1299

(2) भक्ति रस – भक्ति रस का स्वतंत्र अस्तित्व आदिकाल से ही विवादास्पद रहा है। आचार्य भरत ने शान्त रस को नवम रस मानकर इन नौ रसों में ही अन्य संभावित रसों का – विशेषतः भक्ति रस का – अन्तर्भाव स्वीकार कर लिया था। तत्पश्चात् यह विषय संस्कृत-काव्यशास्त्र का पर्याप्त विवादास्पद विषय बना रहा। हिन्दी में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने भक्ति रस को स्वतंत्र रस मानते हुए लिखा है –

> "दुख और आश्चर्य है कि जिन साक्षात्भास शृंगार आदि रसों में विद्यानन्द के अखंड के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उन को रस संज्ञा दी जाती है, और जो साक्षात् विद्यानन्दात्मक भक्ति रस है उसे रस न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को (जो प्रत्यक्षतः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रस की संज्ञा दी गई है।"[1]

पोद्दार जी ने भक्ति रस का विवेचन करते हुए इसके अंगों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है – स्थायी भाव – भगवद्-विषयक अनुराग, आलम्बन विभाव – भगवान् कृष्णादि के अखिल विश्व सौंदर्य निधि दिव्य विग्रह, अनुभाव – भगवान के आनन्द-प्रेमजन्य अश्रु, रोमांच, आदि, व्यभिचारी भाव हर्ष, आवेग, चपलता, उन्माद, चिंता, दैन्य, धृति, स्मृति, मति आदि। वैष्णव आचार्य रूप गोस्वामी ने तो भक्ति रस को मूल रस मानकर अन्य सभी रसों का इसमें अन्तर्भाव किया है।[2] आधुनिक काव्य में भक्ति रस को प्रायः स्वीकार कर लिया गया है।

गुरु अर्जुनदेव के काव्य में जितनी प्रधानता शान्तरस की है, उतनी ही भक्ति रस की भी है। भक्त-कवि के काव्य में ऐसा होना अनिवार्य भी है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं –

---

1 संस्कृत साहित्य का इतिहास – पृष्ठ 72-73

2 भक्तिरसामृतसिन्धु – पृष्ठ 306

"प्रभु जीउ पेखउ दरस तुमारा ।
सुंदर सिआन सारु बिनु दैनी जीअ प्रान ते पिआरा ।
सासत बेद पुरान अवलोके सिमृति ततु बीचारा ।
दीनानाथ प्रानपति पूरन भवजल उधरन हारा ।
आदि जुगादी भगत जन सैवक ताकी बिरद अचारा ।
तिन जन धूरि बाछै नित नानकु परमेसरु देवनहारा ।"[1]

यहाँ पर भगवद्-विषयक अनुराग स्थायी भाव, भगवान् के गुण उद्दीपन विभाव और दीनता आदि संचारी भाव हैं । इसी प्रकार —

"गोविन्द जीउ तू मेरे प्रान अधार ।
साजन मीत सहाई तुम ही तू मेरो परवार ।
करु मसतकि धारिजो मेरे माधै साध संगि गुण गाए ।
तुमरी कृपा ते सभ फल पाए रसिक राम नाम धिआए ।
अविचल नीव धराई सतिगुरि कबहु डोलत नाही ।
गुरु नानक जब भए दइआरा सरब सुख निधि पाही ।"[2]

यहाँ भी भगवद्-विषयक अनुराग स्थायी भाव, उसकी कृपा उद्दीपन विभाव और दैन्य आदि संचारी भाव होने से भक्तिरस है ।

(3) शृंगार रस — यद्यपि संत-कवियों ने ज्ञान के क्षेत्र में निर्गुण और निराकार ब्रह्म को स्वीकार किया है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में इन्हें भी ब्रह्म को सगुण और साकार ही मानना पड़ा है, क्योंकि निराकार आलम्बन भक्ति-भाव का आलम्बन नहीं बन सकता । अपने आराध्य के प्रति इन भक्त-कवियों ने अनेक सम्बन्धों की कल्पना की है जिनमें दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं भावपूर्ण है । इसी सम्बन्ध का विवेचन करने के लिए इन भक्तों ने शृंगार रस का

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-30, पृष्ठ 532

2 वही, महला 5, पद 2-92-115, पृष्ठ 1226

आश्रय लिया है और अपने प्रतिपाद्य को अधिक ग्राह्य एवं मार्मिक बनाने के लिए शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन किया है। यहाँ पर यह बता देना भी नितान्त आवश्यक है कि इनका शृंगार वर्णन आध्यात्मिक शृंगार का वर्णन है जिसमें आत्मा नायिका है और परमात्मा नायक अथवा प्रियतम।

संयोग शृंगार के अन्तर्गत नायिका और नायक के संयोगजन्य आनन्द का वर्णन किया जाता है। गुरु अर्जुनदेव ने निम्नलिखित पदों में आत्मा की उस संयोगावस्था का और तज्जन्य आनन्द का वर्णन किया है जब उसका प्रियतम (परमात्मा) उसे बलात् आत्मसात् कर लेता है —

" गुन अवगुन मेरो कछु न बीचारो। नह देखियो स्व रंग सीगारो।
बज अचार किछु विधि कही जानी। बांह पकरि प्रिअ सेजे आनी।
सुनिबो सखी कंत हमरो बिआलो खसमाना।
करु मसतकि धारि राखिओ करि अपुना किआ जाने इहु लोक अजाना।
सुहागु हमारे अब हुणि सोहिओ। कंतु मिलिओ मेरो सभु दुखु जोहियो
आंगनि मेरै सोभा बंद। निसि बासुर प्रिअ संगि अनंद।
बसत्र हमारे रंगि बनुल। सगल आभरण सोभा कंठि फूल।
प्रिअ पेखी दुसटि पारु सगल निधान। दुसट बुत की चुकी कानि।
सब खुसीआ सदारंग माने। नउ निधि नामु गुह यहि तुपताने।
कहु नानक मउ पिरहि सीगारी। बिरु सोहागनि संगि अतारी।"[1]

इन पंक्तियों में अलौकिक संयोग शृंगार का (आत्मा का परमात्मा से मिलन का) वर्णन किया गया है। जिस प्रकार एक लौकिक नायिका अपने प्रियतम का संयोग पाकर स्वयं को अत्यंत सौभाग्यशालिनी समझती है, प्रियतम के प्रेम में आकण्ठ निमग्न हो जाती है और सर्वत्र उसी की छवि देखती है, उसी

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-7, पृष्ठ 372

प्रकार आत्मा की परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करके सांसारिक भावों से मुक्त होकर अपूर्व आनन्द की अनुभूति कर रही है । यही रति स्थायी भाव है, आत्मा नायिका और परमात्मा नायक है । सेज, चन्द्रमा आदि उद्दीपन्न विभाव और गर्व हर्ष आदि संचारी भाव हैं ।

भावना के क्षेत्र में संयोग की अपेक्षा वियोग का अधिक महत्व माना गया है । गुरू अर्जुनदेव ने परमविरहावस्था के अन्तर्गत वियोग श्रृंगार का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है । यथा —

" दह दिस छत्र मेघ घटाघट दामनि चमकि डराइओ ।
सेज इकेली नींद नह नैनह फिर परिदेसि सिधाइओ ।
हुणि नही संदेसरो आइओ
एक कोसरी बिधि करत लालु तब बहुर पातरी आइओ ।
किउ बिसरै इहु लालु पिआरो सरब गुणा सुख दाइओ ।
मंदरि धरिकै पंथु निहारउ नैन नीरि भरि आइओ । "[1]

इन पंक्तियों में प्रवास वियोग श्रृंगार का वर्णन है । आकाश में बादलों का छाना, बिजली का चमकना, सूनी सेज का होना आदि उद्दीपन विभाव हैं । इन रसांगों के द्वारा विरहिणी के विरह-दशा का अत्यन्त मार्मिक एवं स्वाभाविक चित्रण है ।

(6) वीर रस – आचार्य भरत ने वीर रस की गणना मुख्य रसों में की है और इसे उत्तम प्रकृति वालों से सम्बद्ध बताया है । उत्साह इसका स्थायी भाव होता है । उत्साह वास्तव में विभिन्न वस्तुओं के प्रति जीवन के विभिन्न गुणों अथवा व्यवसाय के प्रति विकसित हो सकता है और इस दृष्टि से वीर रस के अनेक भेद हो सकते हैं । मुख्य रूप से इसके चार भेद माने जाते

---

1 श्री गुरूग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 11-61, पृष्ठ 624

है — युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में युद्धवीर को छोड़कर शेष तीनों भेदों के उदाहरण मिल जाते हैं । यथा —

" निरधन कउ तुम देवहु धना । अनिक पाप जाहि निरमल मना ।
सगल मनोरथ पूरन काम । मगत अपुने कउ देवहु नाम ।"[1]

इसमें निर्धन (भक्त) आलम्बन, भक्तवत्सलता उद्दीपन, देना आदि अनुभाव हैं । अतः यही दानवीर रस है । यहीं पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि संतों में दानवीरता के जो वर्णन मिलते हैं वे लौकिक कवियों से नितान्त भिन्न हैं । लौकिक कवियों ने भौतिक धन को ही अधिक महत्व दिया है और संत-कवियों ने भगवान् की भक्तवत्सलता को । इसलिए इनकी वीर रस की योजना वैसी नहीं है जैसी लौकिक कवियों में मिलती है ।

दयावीर के आलम्बन दया के पात्र, उद्दीपन इनकी दीन दशा, अनुभाव दया पात्र से सांत्वना के वाक्य कहना, इसके कष्ट दूर करना आदि और धृति, हर्ष, मति, इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में भगवत् गुणों का प्राचुर्य होने के कारण इस रस भेद के भी प्रचुर उदाहरण सहज ही मिल जाते हैं । यथा —

" पांच बरख को अनाथु धु बारिकु हरि सिमरत अमर अटारे ।
पुत्र हेतु नाराइणु कहिओ जम किंकर मारि बिदारे ।
मेरे ठाकुर कैते अगनत उधारे ।
मोहि दीन अलप मति निरगुण परिओ सरनि दुआरे ।
बालमीकु सुपचारो तरिओ कवित्त तरे बिचारे ।
एक निमख मन मांहि अराधिओ गजपति पारि उतारे ।
कीनी रखिआ भगत प्रहिलादे हरनाखस नखहि बिदारे ।
बिदरु दासी सुतु भइओ पुनीता सगले कुल उजारे । "[2]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-23-36, पृष्ठ 1146
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 999

यहाँ पर ध्रुव, अजामिल, वाल्मीकि, गजपति आदि आलम्बन विभाव ; अमर करना, पाप नष्ट करना, उद्धार करना आदि अनुभाव ; इन सब की दयनीय दशा आदि उद्दीपन विभाव हैं और धृति आवेग, हर्ष, इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव दयावीर रस में अभिव्यक्त हुआ है ।

धर्मवीर में वेद-शास्त्रों के वचनों एवं सिद्धान्तों पर श्रद्धा तथा विश्वास आलम्बन विभाव, उनके उपदेशों और शिक्षाओं का श्रवण और मनन आदि उद्दीपन विभाव ; उनके अनुकूल आचरण आदि अनुभाव तथा धृति आदि संचारी भाव होते हैं । धर्माचरण एवं धर्माचरण के उत्साह की पुष्टि इस रस में होती है । यथा —

"से नेत्र परवाणु जिनी दरसनु पेखा । से कर भले जिनि हरि जसु लेखा ।
से चरण सुहावे जोहरि मारगि चले । डउ धनि तिन संगि पछाणा मीउ ।
सुणि साजन मेरे मीत पिआरे । साध संगि बिन माहि उधारे ।
किलबिख काट होआ मनु निरमलु मिटि गइ आवण जाणा मीउ ।"[1]

यहाँ पर 'वे ही नेत्र हैं जो परमात्मा का दर्शन करते हैं' आदि शास्त्रोक्तियों पर विश्वास आलम्बन, परमात्मा के प्रति भक्ति भाव उद्दीपन, दर्शन करना आदि अनुभाव और धृति आदि संचारी भाव हैं । इनसे पुष्ट होकर धर्माचरण का उत्साह धर्मवीर इसमें अभिव्यक्त हुआ है ।

(5) करुण रस - करुण रस का विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में पर्याप्त विस्तार से मिलता है । परवर्ती आचार्यों ने इ स्य॰ यथेष अथवा प्रकारान्तर से इसी विवेचन को ग्रहण किया है । आचार्य भरत के अनुसार करुण का स्थायी भाव शोक, शोक की उत्पत्ति के शापजन्य क्लेश, विनिपात, इष्टजन्य विप्रयोग, विभवनाश आदि अनेक कारण, अश्रुपात विलाप, मुख-शोषण आदि अनुभाव और निर्वेद, ग्लानि, चिंता आदि संचारी भाव हैं ।[2]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-22- पृष्ठ 103
2 नाट्यशास्त्र, 6-72

वस्तुतः करुण रस का यह विवेचन लौकिक भावनाओं पर आधारित है । आध्यात्मिक भावनाओं में करुण रस की ऐसी ही स्थिति मिलनी सम्भव नहीं है । इसीलिए संत-कवियों के काव्य में करुण रस का स्थान वहीं सम्भव है जहाँ ये अपने आराध्य के वियोग में अपने निर्वेद ग्लानि चिन्ता आदि भावों की अभिव्यक्ति करें । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में भी ऐसे स्थल करुण रस से पूर्ण परिलक्षित होते हैं । यथा —

"मेरे मन सरनि प्रभू सुख पाए ।
जा दिनि बिसरै प्रान सुखदाता सो दिनु जात अजाए ।
एक पैज के पाहुन तुम आए बहु जुग आस बंधाए ।
गृह मंदर सभै जोहीसे बिउ तरवर की छाए ।
तुन मेरा सभै सभमेरी बाग मिलख सभ जाए ।
देवनहारा बिसरिओ ठाकुरु बिन मति होत पराए । "[1]

इसमें भगवान् के अभाव से उत्पन्न शोक स्थायी भाव ; व्यर्थ में जीवन का नष्ट होना और संसार के मोह जाल में पड़ना आदि उद्दीपन विभाव ; परिवेदना आदि अनुभाव और निर्वेद आदि संचारी भाव हैं । इस प्रकार इन पंक्तियों में करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है ।

(6) अद्भुत रस — आचार्य भानुदत्त ने अद्भुत रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि विस्मय की सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों की तटस्थता अद्भुत रस है ।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी रचना में विस्मय स्थायी भाव इस सीमा तक प्रस्फुटित हो जाए कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उससे प्रभावित होकर निश्चेष्ट सी बन जाएँ तब वहीं अद्भुत रस की निष्पत्ति होती

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-14-152, पृष्ठ 212

2 विस्मयस्य सम्यक् समृद्धिरद्भुतः सर्वेन्द्रियाणां तटस्थ्यं वा ।
— भानुदत्त, रस तरंगिणी, ।

है । इस रस के अलौकिक या आश्चर्यजनक वस्तु आलम्बन विभाव, अलौकिकता, गुणों का वर्णन उद्दीपन विभाव । रोमांच, कम्प, गद्गद् वचन आदि अनुभाव और वितर्क, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव का काव्य अलौकिकता से ओतप्रोत है । इसलिए इसमें अद्भुत रस की पर्याप्त मात्रा में निबन्धन हुआ है । यथा —

" बाजीगर जैसे बाजी पाई । नाना रूप भेख दिखलाई ।
सांगु उतारि धरि कुंडिओ पसारा । तब एको एकंकारा ।
कवन रूप दिसटिओ बिन साझो । कतहि गइओ उहु कत ते आइओ ।
जलतै उठहि अनिक तरंगा । कनिक भूषन कीने बहु रंगा ।
बीजु बीजि देखिओ बहु परकारा । एक पाके ते एकंकारा ।"[1]

इन पंक्तियों में विस्मय स्थायी भाव, सृष्टि के विविध रूप उद्दीपन विभाव, रोमांचित होना आदि अनुभाव और औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन रसांगों से यहाँ अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है ।

(7) हास्य रस — भरत द्वारा प्रतिपादित रसों में हास्य रस भी है । इस रस का स्थायी भाव हास, आलम्बन विभाव दूसरे की विकृत वेशभूषा, आकार निर्लज्जता आडम्बर आदि, अनुभाव ओठ, नाक कपोलों का स्फुरण, व्यंग्यपूर्ण बातें करना आदि और संचारी भाव आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि होते हैं । संत-कवियों की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी बाह्याडम्बरों का विरोध करने के लिए हास्यरस का प्रयोग किया है । यथा —

" तपसी करि के देही साधी मनूआ दसदिस धावना ।
ब्रह्मचारि ब्रह्मबजु कीना त्रिरदै बहुआ गुमाना ।
सनिआसी होइ के तीरथि भ्रमिओ उसु महि क्रोधु विगाना ।
घूंघर बाधि भए रमदासा रोटीअन के औपावा ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 736

बरत नेम करम खट कीने बाहरि भेख दिखावा ।
गीत नाद मुखि राग अलापे मनि नही हरि हरि गावा ।"[1]

इन पंक्तियों में हास स्थायी भाव, आडम्बरजन्य निर्लज्जता आलम्बन विभाव, आडम्बर उद्दीपन विभाव ; व्यंग्यपूर्ण बातें करना आदि अनुभाव और अवहित्था आदि संचारी भावों के द्वारा हास्य रस की निष्पत्ति हुई है ।

(8) भयानक रस — भयानक रस का स्थायी भाव भय ; आलम्बन विभाव व्याघ्र आदि हिंसक जीव, शत्रु आदि, उद्दीपन विभाव निःसहाय होना आदि, अनुभाव स्वेद, वैवर्ण्य, कम्प आदि और संचारी भाव त्रास, दीनता, शंका आदि होते हैं । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में परमात्मा को सर्वशक्तिमान माना गया है और उसकी शक्ति से भयभीत होकर अन्य प्राणियों का भय व्यक्त किया गया है । यथा —

" डरपै धरति अकासु नखत्रा सिर ऊपरि अमरु करारा ।
पउणु पाणी वैसंतरु डरपै, डरपै इन्दु विचारा ।
इका निरंजन बात सुनी ।
सा सुखीआ सो सदा सुहेला जो गुर मिलि गाइ गुनी ।
देहधार अरूवेधा डरपहि सिध साधिक डरि मुआ ।
लख चउरासीह मरि मरि जनमै फिरि फिरि जोनी जोइआ ।
राजसु सातकु तामसु डरपहि कैते रस उपाइआ ।
छल बपुरी इहु कउला डरपै अति डरपै धरमराइआ ।
सगल सामग्री डरहि विआपी बिनु डर करणैहारा ।
कहु नानक भगतन का संगी भगत सोहहि दरबारा । "[2]

इन पंक्तियों में भय स्थायी भाव ; परमात्मा की शक्ति आलम्बन विभाव, निःसहाय होना उद्दीपन विभाव, कम्प आदि अनुभाव और दीनता,

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 6-15, पृष्ठ 1003
2. वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 998

शंका आदि संचारी भावों से स्थायी भाव परिपुष्ट होकर भयानक रस में व्यंजित हुआ है ।

किसी रससिद्ध-कवि की भीति रस की योजना करना गुरु अर्जुनदेव का न तो साध्य ही है और न उद्देश्य ही । भक्ति की विविध धाराओं को प्रवाहित करने, उनमें सांसारिक प्राणियों को स्नात करके शुद्ध और निर्मल बनाना इनका उद्देश्य है । इस उद्देश्य की पूर्ति में स्वाभाविक रूप से भावों या रसों की जो संयोजना हो गई है, वही इनकी भाव-योजना या रस-योजना है । इसीलिए इनकी सरल और सहज रस-योजना कवि के भावों का समीक्षण करने में और पाठकों या श्रोताओं को भावाभिभूत करने में पूर्ण सफल है ।

कल्पना - भक्ति

पूर्वानुभूतियों की योजना द्वारा अनुभूति उत्पन्न करने वाली भक्ति को कल्पना कहते हैं । काव्य-तत्वों का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दोनों आचार्यों ने किया है और काव्य में कल्पना की महत्ता को भी दोनों ने ही निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है । अपनी भावानुभूतियों को सशक्त और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि को कुछ न कुछ कल्पना अवश्य करनी पड़ती है । इसीलिए कुछ आलोचकों ने तो कविता को कल्पना की आवेगमयी अभिव्यक्ति ही माना है । कवि की वही कल्पना-भक्ति श्लाघनीय और सफल मानी जाती है । जो सहज ग्राह्य एवं वक्तव्य का उत्कर्ष करने वाली हो । वक्तव्य का उत्कर्ष वह तभी कर सकती है जब वह उसी के अनुरूप हो, अर्थात् विराट् विषय का वर्णन करने के लिए विराट कल्पना और मधुर विषय का वर्णन करने के लिए मधुर कल्पना ही अपेक्षित होती है । इसीलिए काव्य में कल्पना का प्रयोग वही उचित माना जाता है जो काव्य की रमणीयता को और अधिक रमणीय बना सके ।

गुरु अर्जुनदेव ने प्रतिपाद्य के अनुसार ही कल्पना का प्रयोग किया है । जहाँ इन्होंने विराट् तत्वों का चित्रण किया है वहाँ पर इनकी विराट् कल्पना और जहाँ पर मधुर तत्वों का चित्रण किया है वहाँ पर इनकी मधुर

कल्पना ही परिलक्षित होती है । यथा —

" सिमरै धरती और आकासा, सिमरहि चंद सूरज गुणतासा ।
पउण पाणी वैसंतर सिमरहि सिमरै सगल उपारजना ।
सिमरहि खंड दीप सभि लोआ । सिमरहि पाताल पुरीआ सुध सोआ ।
सिमरहि खाणी सिमरहि वाणी सिमरहि सगले हरिजना ।
सिमरहि ब्रह्म में बिसन महेसा । सिमरहि देवते कोड़ तेतीसा ।
सिमरहि जख्य दैत सभ सिमरहि अगनतु न जाई ऋषु गना ।
सिमरहि पसु पंखी सभि भूता । सिमरहि बन पबवत अउधूता ।
लता बली साख सिमरहि रवि रहिआ सुआमी सभ मना ।
सिमरहि थूल सूखस सभि जंता । सिमरहि सिध साधिक हरि मंता ।
गुपत प्रगट सिमरहि पुत्र मेरे सगल भवन का पुत्र धना ।
सिमरहि नर नारी आसरमा । सिमरहि जाति जोति सभि वरना ।
सिमरहि गुणी चतुर सभि बेते सिमरहि रैणी अरु दिना ।
सिमरहि घड़ी मुरत पल निमखवा । सिमरै कालु अकालु सुचि सोचा ।
सिमरहि सउण सासत्र संजोगा अलखु न लखीऐ इकु खिना । "[1]

अर्थात् धरती, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, वायु अग्नि, सारी सृष्टि, खण्ड द्वीप, सारे लोक, पाताललोक, सारे जीव, चारों खानियां, वाणी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तेतीस करोड़ देवतागण, यक्षगण, दैत्यगण, पशु, पक्षी, सारे प्राणी, वन, पर्वत, अवधूत, लताएँ, बल्लरियाँ, शाखाएँ, स्थूल, सूक्ष्म, सारे जन्तु, सिद्ध एवं साधक, गण, चारों आश्रम के नर-नारी, सारी जातियाँ, ज्योति, सारे वर्ण के लोग, गुणी चतुर, पंडित, दिनरात, घड़ी, निमिष, घड़ी, मुहूर्त, काल, अकाल, शौच (पवित्रता) श्रवण एवं शास्त्रादिक इस परमात्मा का स्मरण करते हैं जो गुणों का गृह है, जिसके यशों का गुणगान नहीं हो सकता, जो सब में समान रूप से व्याप्त है, जो अलक्ष्य है और एक क्षण के लिए भी नहीं देखा जा सकता ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 16-18, पृष्ठ 1078-1079

इस छन्द में परमात्मा की व्यापकता, असीमता आदि गुणों का वर्णन करके उसके विराट् रूप को व्यक्त किया गया है। इस विराट् रूप को प्रभाव-पूर्ण रीति से व्यक्त करने के लिए कवि ने विराट् कल्पना का आश्रय लिया है। इसी प्रकार परमात्मा के विराट् वैभव का वर्णन करते हुए भी कवि की विराट् कल्पना स्पष्टतया परिलक्षित होती है —

" अति ऊचा ताका दरबारा। अंतु नहीं किछु पारावारा।
कोटि कोटि कोटि लख धावै। इकु तिल ताका महलु न पावै।
सुहावी करणु सु वेला जितु प्रभ मेला।
लाख भगत जाकउ आराधहि। लाख तपीसर तपु ही साधहि।
लाख जोगीसर करते जोगा। लाख भोगीसर भोगहि भोगा। "[1]

प्रभु का दरबार बहुत ऊँचा है जिस तक पहुँचना बहुत कठिन है। वहाँ तक पहुँचने के लिए कई करोड़ व्यक्ति अनेक प्रकार के यत्न करते हैं, अर्थात् आराधना, तप तथा योग की साधना करते हैं, परन्तु फिर भी उस तक पहुँचने में असमर्थ ही रहते हैं। यहाँपर ईश्वर के विराट् वैभव की अभिव्यक्ति करने के लिए विराट् कल्पना का प्रयोग किया गया है।

जहाँ इन्होंने परमात्मा के मधुर रूप का वर्णन किया है वहाँ पर इनकी कल्पना भी मधुर बन गई है। परमात्मा के पाप-भंजक और दुःख-विनाशक रूप का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है —

" हरि चरण सरोवर तल करहु निवासु मना।
करि मजनु सरे सभि किलविख नासु मना।
करि सदा मजनु गोविंद भजनु दुख अंधेरा नासे।
जनम मरण न होई तिस कउ कटे जम के फासे।

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1-2, पृष्ठ 562

मिलु साधु संगि नाम रंगे तही पूरन आसो ।
बिनवंति नानक धारि किरप हरि चरण कमल निवासो ।"[1]

इन पंक्तियों में हरि-चरणों को सरोवर से तुलना की गई है । जिस प्रकार सरोवर में शीतलता, स्वच्छता और शारीरिक दुख को दूर करने के गुण होते हैं उसी प्रकार भगवान् के चरण भी भक्तों को सुख देने वाले, अपनी निष्कलंकता से भक्तों के जीवन को भी निष्कलंक बनाने वाले और अपनी कृपा से उनके कष्टों को दूर करने वाले हैं ।

यहीं पर मधुर भावों के अनुरूप ही मधुर कल्पना की संयोजना है जो अत्यंत प्रभावोत्पादक है ।

अन्य विषयों के वर्णन करते हुए भी इनकी कल्पना-शक्ति प्रतिपाद्य के अनुकूल ही है । प्रीति की महत्ता का विवेचन करते हुए इनकी कल्पना ने जिन सांसारिक उपकरणों का प्रयोग किया है, उनके द्वारा इनका वक्तव्य बहुत ही प्रभावशाली बन गया है । निम्नलिखित पंक्तियों में सुत, सम्पति, हैवर, गैवर आदि इसके प्रमाण हैं —

"सुख नाही रे हरि भगति बिना ।
प्रीति जनमु इहु रतनु अमोलकु साध संगति जपि इकु बिना ।
सुत संपति बनिता बिनोद । छोड़ि गए बहु लोग भोग ।
हैवर गैवर राज रंग । तिआगि चलिओ है मूढ़ नंग ।
मोआ बंधन देह फूलिआ । सो तनु धरि संगि खलिआ ।
मोहि मोहिआ जाने दूरि है । कहु नानक सदा हदूरि है ।"[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु अर्जुनदेव की कल्पना-शक्ति प्रतिपाद्य के अनुरूप ही रही है । इसीलिए इसमें प्रतिपाद्य का सजीव वर्णन करने की पूर्ण क्षमता है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-2-5, पृष्ठ 545
2 वही, महला 5, पद 4-1-139, पृष्ठ 210

प्रकृति चित्रण

प्रकृति का सौंदर्य सभी देशों के लिए और सभी कालों के लिए सदैव आकर्षक रहा है । यही कारण है कि विश्व-भर के काव्य में प्रकृति सौंदर्यागार बनी हुई है और कवि इससे विविध अनुभूतियाँ ग्रहण करके उनको विविध विधाओं से व्यक्त करता है । फलतः प्रकृति-चित्रण की आलम्बनत्व, उद्दीपन रूप, पृष्ठभूमि का रूप, मानवीकरण, भावनाओं का आरोप, प्रतीकात्मक रूप, उपदेशात्मक रूप तथा रहस्यात्मक रूप आदि अनेक विधाएँ काव्य में पाई जाती हैं । प्रकृति से उद्दीपन रूप का चित्रण अधिकांशतः शृंगार रस में होता है । संयोग शृंगार के अन्तर्गत षड्ऋतु का वर्णन और वियोग शृंगार की मार्मिकता की अभिव्यक्ति के लिए बारहमासा का वर्णन किया जाता है ।

गुरु अर्जुनदेव ने भी बारहमासा का वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन साहित्यिक परम्परागत-वर्णन से भिन्न है । इन्होंने प्रकृति के इस रूप के अन्तर्गत न तो किसी नायिका के और न किसी नायक के विरह का वर्णन किया है, वरन् विभिन्न भक्ति अंगों का वर्णन इन्होंने एक-एक मास को लेकर किया है । यथा —

" चेति गोविंदु आराधिऐ होवै अनंदु घणा ।
संत जना मिलि पाईऐ रसना नामु भणा ।
जिनि पाइआ प्रभु आपणा आए तिसहि गणा ।
इकु खिनु तिलु विनु जीवणा विरथा जनमु जणा ।
जलि थलि महीअलि पूरिआ रविआ विचि वणा ।
सो प्रभु चिति न आवई कितड़ा दुखु गणा ।
जिनी रविआ सो प्रभु तिना भागु मणा ।
हरि दरसन कंउ मन लोचदा नानक पिआस मना ।
चेति मिलाए सो प्रभु तिस के पाई लगा ।"[1]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 3, पृष्ठ 133

अर्थात् चैत के महीने में गोविन्द की आराधना करने से आनन्द की प्राप्ति होती है । उस प्रभु को सत्संगति में रहकर नाम-स्मरण से ही प्राप्त किया जा सकता है । जो व्यक्ति प्रभु को पा लेता है उसी का जन्म सफल होता है । जो प्रभु सर्वव्यापी है उसको एक क्षण के लिए भी भूलना जन्म को व्यर्थ गँवाना है । जो प्रभु का नाम जपता है वही सौभाग्यशाली है । आत्मा विरह के दुःख से दुखी होकर कहती है कि मेरा मन प्रभु के दर्शनों का अभिलाषी है । जो मुझे उससे मिला देगा मैं उसके चरणों की दासी बन जाऊँगी ।

इसी तरह वैसाख के महीने के वर्णन में प्रभु-नाम की महत्ता तथा सांसारिक बन्धनों को झूठा बताते हुए इन्होंने कहा है —

" वैसाखि धीरनि किउ बाढीजा जिना प्रेम बिछोहु
हरि साजनु पुरखु विसारि कै लगी माइआ धोहु ।
पुत्र कलत्र न संगि धना हरि अविनासी ओहु ।
पलचि पलचि सगली मुई झूठै धंधि मोहु ।
इकसु हरि के नाम बिनु अगै लई अहि खोहि ।
वसु विसारि विगुचणा प्रभ बिन अवरु न कोई ।
प्रीतम चरणी जो लगे तिन की निरमल सोई ।
नानक की प्रभ बेनती प्रभ मिलहु परपति होई ।
वैसाखु सुहावा ता लगे जो संतु मेटै हरि सोई । "[1]

प्रभु से बिछुड़ी हुई आत्मा किस प्रकार धैर्य धारण कर सकती है ? हरि जैसे परम पुरुष को छोड़ कर जो व्यक्ति माया के बन्धनों में फँस कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं वे यह नहीं जानते कि पुत्र, पत्नी, धन, संपत्ति कोई भी उनका साथ नहीं देगा । केवल एक प्रभु का नाम ही उसके साथ जाएगा । प्रभु को भुला कर मनुष्य को हमेशा पछताना पड़ता है । वैसाख का महीना तभी अच्छा लग सकता है जब मनुष्य संत-संगति में रहकर प्रभु की भक्ति करे और अपना मन भी निर्मल करे ।

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 3, पृष्ठ 133

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इनका बारहमासा साहित्यिक परम्परागत बारहमासे से भिन्न है । वस्तुतः इनका प्रकृति-चित्रण परम्परागत प्रकृति चित्रण से भिन्न है । प्रकृति-कवियों की भाँति न तो इन्हें प्रकृति-सौंदर्य से लगाव था और न इन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था । संतों का प्रकृति के उपयोग के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण था । वे अपनी भावाभिव्यक्ति के साधन-रूप में ही प्रकृति का प्रयोग करते थे । ऐसा ही गुरू अर्जुनदेव ने भी किया है । इसीलिए इनकी बारहमासों की प्रकृति जायसी आदि की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है । यह तो पूर्णतया आध्यात्मिकता में निमग्न है । इसीलिए इसमें प्रकृति की सुरम्यता नहीं, बल्कि उसके माध्यम से आध्यात्मिक भावनाएँ ही मुखरित हैं ।

भाषा

गुरू अर्जुनदेव मूलतः भक्त हैं, अतः भक्ति इनका साध्य है, और भाषा भक्ति-भावना को व्यक्त करने वाला साधन । जिस प्रकार अन्य संत-कवियों ने भाषा के प्रति उदार भावना का परिचय दिया है उसी प्रकार इनकी भाषा में भी इनकी उदारता चरम सीमा पर दिखाई देती है । इसी उदारता के परिणाम-स्वरूप इन्होंने विभिन्न भाषाओं के शब्दों को निःसंकोच भाव से ग्रहण किया है, जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

संस्कृत — अनुग्रह, पुनः रचि, नवनिधि, कल्यामय, अजर-अमर, उद्यान, अन्तर्गत, परिमिच्छा, सृष्टि, कोटि, अश्व, छाति, बुद्धि, नृत्य चरणारविंद, उष्ण, रेणु, उत्पत्ति, निधान, दोषक, गंधर्व, अंधकूप, आभूषण, पलायन, पाषाण, दृष्टि दुरमति, स्मृति, सूत्र, कलत्र, भ्रष्ट, कुक्षत, नक्षत्र, पुनीत आदि ।

पंजाबी — छडि, लाहि छैल छबीला, मनम, धरण, कारण, सोई, कमावना, मउले, कवीड़ियाँ, सजण, बिछड़ि, इकट्ठ, आस, पिआसी केत, साजिआ, बिरहा, मैर, धरिआ, जपीए, नाउ, उपावणहार, उपारजा, होवै, धारजा,

जीवदिआ, मरदिआ, पसरिआ, उआ, मारिआ, मालदा आदि ।

लहंदी — विरलो, धीओ, जीअड़े, मलंद, इम, ठाह, लया, वंजावी, तेंडे, धीवी, लया, जाला, सरपर, जाता, वरतीआ, डिठड़ो, मेडिआ, डिक आदि ।

सिंधी — डेवण, डिठमु, मडिआ, वठी, रिठोर, अमाजो, डिखदो, विन्नो, मउ आदि ।

ब्रज-भाषा — परया, डीठा, कापर, मांग, कापि, माटी, नेरा, लावत, घालडी, मैवारी, मडाते, चालनहारे, घुलाहि, मथरो, रीत, मौने, कवहु, जावे, अधावे, बखाने, मेटे, धावत, संघहु, माहि, बिठासै, चितवहु, डोवत पावत, छुटत, उधरो, मडआ, तिसहि आदि ।

अरबी-फारसी — फ़ाक, आलम, असमान, पैदाइस, खुदाइ बरमदीव, बंदे, फनाई, मुरदार, मुरदनी, करद, गाफ्ल, इबाद, गैबान, बरखत, कबज, दिल, कुसतनी, सजाई, निआमति, बिरादरा, दरबार, सिलक, खानाइ, बंदार, जीवार, सइ, परवरदिगार, महल, बखसिंद, नापाक, इबाल, दोज़क, सिफ्त, इदुर करम आदि ।

इस विशाल उदारता के होते हुए भी इनकी भाषा में भाषा के वे अनेक गुण सहज ही उपलब्ध हैं, जो किसी सशक्त एवं सरस भाषा के लिए अपेक्षित होते हैं । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा का विश्लेषण करते हुए लिखा है —

> " भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था । वे वाणी के डिक्टेटर थे । जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है — बन गया है तो सीधे-

सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नज़र आती है।"[1]

यही बात इनके विषय में भी कही जा सकती है। यदि यह कहा जाए कि इनकी भाषा अन्य संतों और गुरुओं की अपेक्षा अधिक परिनिष्ठित है तो अनुचित न होगा।

भाषा की क्षमता को सबल बनाने वाले अनेक साधन माने गए हैं जिन्हें भाषा के गुण कहा जाता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इन्हीं गुणों के आधार पर इनकी भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अलंकार

अलंकार का अर्थ है अलंकृत करने वाला। जिस प्रकार लोक में शारीरिक सौंदर्य के लिए अलंकारों या आभूषणों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार भाव तथा भाषा के सौंदर्य की वृद्धि के लिए काव्यालंकारों का प्रयोग किया जाता है। अलंकारों का काव्य में इतना महत्वपूर्ण स्थान माना गया है कि काव्यशास्त्र का अलंकार-सम्प्रदाय तो इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी पर्याप्त सफल हुआ है। वास्तव में अलंकारों का उपयोग केवल भाव और भाषा की सौंदर्य-वृद्धि के लिए ही होना चाहिए। यही अलंकारों की सार्थकता है। डा. नगेन्द्र ने अलंकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा है कि सहजाभिव्यक्ति में अलंकार स्वतः ही आकर उसके उपस्कारक बन जाते हैं।[2] गुरु अर्जुनदेव की अलंकार-योजना के विषय में यह कथन पूर्णतया सत्य है। अलंकारों का प्रयोग और तज्जन्य चमत्कार इनका अभीष्ट नहीं था। अपने वक्तव्य को अधिकाधिक सरस, सजीव एवं प्रभावशाली

---

1 कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 216

2 रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ 86

बनाना ही इनका उद्देश्य था । यही कारण है कि इनकी अलंकार-योजना सहज और स्वाभाविक होने के कारण सफल भी है और प्रभावोत्पादक भी ।

शब्द और अर्थ पर आधारित अलंकारों के शब्दालंकार और अर्थालंकार दो भेद माने गए हैं । प्रयोग और सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से यद्यपि शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्व दिया गया है तथापि काव्य-जगत् में शब्दालंकारों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । आचार्य नरेन्द्रप्रभ सूरि का मन्तव्य है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों सरस्वती के दोनों कानों के कुंडल हैं और उसकी शोभा में दोनों का समान महत्व है ।[1] शब्दालंकारों में भी अनुप्रास का विशेष महत्व माना गया है । यह अलंकार संगीतात्मकता के अतिरिक्त काव्य में रस का भी विशेष आधान करता है । इसीलिए रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट सन्निवेश को ही अनुप्रास अलंकार कहा गया है ।[2] अनुप्रास के वृत्यनुप्रास और छेकानुप्रास दो प्रमुख भेद हैं । काव्य की सरसता तथा संगीतात्मकता में इन दोनों अनुप्रास-भेदों का विशेष योगदान होता है । यही कारण है कि गुरु अर्जुनदेव के काव्य में ये दोनों भेद प्रचुरता से मिलते हैं । वृत्तियों के आधार पर अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति को वृत्यनुप्रास कहते हैं । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में वृत्यनुप्रास की प्रचुरता है । यथा —

"हरि हमरा हम हरि के दासे नानक सबदु गुरु सचु दीना जीउ"[3]

---

1 शब्दालंकृतिभिः कार्यं सरस्वत्येक कुण्डता ।
द्वितीय कुण्डलार्थं तद्वृत्तौ वार्तिकृतीरिमाः ॥
— अलंकार-महोदधि - 8-1

2 (क) रसाद्यनुगतत्वेन प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।
— काव्यप्रकाश, 9-79, (वृत्ति)

(ख) रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रास ।
— साहित्यदर्पण 10-5 (वृत्ति)

3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-14, पृष्ठ 100

यहाँ 'ह' वर्ण के अनेक बार आवृत्ति संगीतात्मकता के द्वारा वक्तव्य को सरस एवं सजीव बनाने में सक्षम है । और —

" सिमरउ सिमर सिमर सुख पावहु ॥ "[1]

इसमें 'स' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति के कारण वृत्यनुप्रास है ।

छेकानुप्रास में दो-दो या अनेक समान व्यंजनों की, चाहे उनमें स्वर साम्य न हो, क्रमबद्ध तथा व्यवधान-रहित एक बार आवृत्ति होती है । यदि इसमें आवृत्त व्यंजनों और स्वरों में समता होती है तो इसका प्रभाव अधिक उत्कर्षक होता है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में छेकानुप्रास का यही रूप मिलता है । यथा —

" हैवर गैवर राजरंग । तिआगि चलिओ है मूड़ नंग ।"[2]

इसमें 'हैवर' और 'गैवर' में छेकानुप्रास है । यह छेकानुप्रास का उत्तम रूप है । इसी प्रकार —

" चरणारविंद मनविंध्यं सिध्यं सरब कुसलणह ।"[3]

इसमें 'विंध्य-सिध्यं' में छेकानुप्रास है ।

इसके अतिरिक्त इन्होंने छेकानुप्रास के कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जिनमें आवृत्त वर्णों में व्यवधान है । यथा —

" कउण सु मुकता कउणु सु जुगता ।"[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पृष्ठ 262
2 वही, महला 5, पद 4-1-139, पृष्ठ 210
3 वही, महला 5, पद 18, पृष्ठ 1360
4 वही, महला 5, पद 9-2, पृष्ठ 131

यहाँ 'मुक्ता' और जुगता में समान स्वर और व्यंजनों की आवृत्ति तो है किन्तु इनके मध्य व्यवधान भी है। ऐसे प्रयोग भी इनके काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं। इसका कारण यह है कि व्यवधान हीन आवृत्तियों की भाँति इस प्रकार की आवृत्ति भी संगीत और प्रभाव में महत्वपूर्ण योग देती है।

इनके अतिरिक्त पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, यमक, शब्दालंकार भी इनके काव्य में सहज ही और प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। यथा —

" गुरु सेवा ते भए मन निरमल। हरि हरि हरि हरि नाम सुना।"[1]

इसमें 'हरि' शब्द की आवृत्ति भावव्यंजक होने से पुनरुक्ति अलंकार है। इसी प्रकार —

" ओट गही निरभउ प्रभु पाइऐ। सासि सासि सो गुन निधि गाइए।
दूर न होइ कतहु जाईऐ। नदरि करे ता हरि हरि पाईऐ।"[2]

यहाँ पर 'सासि सासि' में 'सासि' तथा 'हरि हरि' में 'हरि' शब्दों की पुनरुक्ति से वक्तव्य का प्रभाव द्विगुणित हो गया है। अष्टपदियों में तो इन्होंने पूरे-पूरे छंद में प्रायः इसी अलंकार का प्रयोग किया है।[3]

" बलि बलि तिसु सतिगुर कउ जाउ।"[4]

यहाँ 'बलि' शब्द की आवृत्ति भावावेश की दशा को व्यक्त करती है अतः वीप्सा अलंकार है।

" चतुराई सिआणपा किते काम न आइऐ।"[5]

यहाँ 'चतुराई' और 'सिआणपा' में पुनरुक्ति का आभास होने से पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। इसी प्रकार —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-15-66, पृष्ठ 387
2 वही, महला 5, पद 4-5-99, पृष्ठ 395
3 वही, महला 5, पद 4-6-100, पृष्ठ 395
4 वही, महला 5, पद 4-1-103, पृष्ठ 396
5 वही, महला 5, पद 8-24, पृष्ठ 395

" उत्तम सलोक साध के वचन अमुलीक लाल हि रतन ।"[1]

यहाँ पर 'लाल' और 'रतन' में पुनरुक्ति का आभास है ।

यमक अलंकार में समानार्थक शब्दों की भिन्नार्थक आवृत्ति होती है । यह आवृत्ति सार्थक भी हो सकती है और निरर्थक भी । इनकी भाषा में संगीतात्मकता की प्रधानता होने के कारण सार्थक-निरर्थक आवृत्ति वाले यमक अलंकार का ही अधिक प्रयोग मिलता है । यथा —

" ओहु आदि जुगादि जुगह जुगु पूरा परमेसरु " ।[2]

इस पंक्ति में 'आदि जुगादि' में सार्थक और निरर्थक 'आदि' शब्द की आवृत्ति है । इसी प्रकार —

"बरन भोहु मान अपमानं मदं माया बिआपितं ।"[3]

में भी 'मान-अपमान' में 'मान' शब्द की सार्थक और निरर्थक आवृत्ति है ।

अर्थालंकारों में इन्होंने उपमा और रूपक अलंकारों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है । अर्थालंकारों में उपमा का महत्वपूर्ण स्थान है, इसीलिए इसे सभी अर्थालंकारों का मूल आधार माना गया है । उपमा का आधार है सादृश्य । सादृश्य को चमत्कारक और सहृदय के लिए आह्लादक तो होना ही चाहिए, उसे वाच्य भी होना चाहिए । यदि सादृश्य व्यंग्यरूप में प्रतीयमान होगा तो वहाँ उपमा अलंकार नहीं होगा । उपमा के चार अंग होते हैं — उपमेय, उपमान, वाचकशब्द और साधारणधर्म । उपमा का समस्त प्रभाव मूलतः उपमान पर ही आधारित होता है । उपमानों के अनेक भेद हो सकते हैं जिन्हें दो

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-2-104, पृष्ठ 396

2 वही, महला 5, पद 42, पृष्ठ 1356

3 वही, महला 5, पद 82, पृष्ठ 1356

वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – वास्तविक और काल्पनिक। काल्पनिक की अपेक्षा वास्तविक उपमान अधिक ग्राह्य और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध पाठक या श्रोता के संस्कारों से पहले से ही जुड़ा हुआ होता है। वे ही काल्पनिक उपमान प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जिनका सादृश्य सहजगम्य होता है और जिससे भाव ग्रहण करने में कठिनाई नहीं होती। गुरु अर्जुनदेव की उपमान-योजना वास्तविक उपमानों पर आधारित है। ये उपमान सामान्य जन-जीवन से ग्रहण किए गए हैं। इसीलिए इनकी ग्राह्यता और प्रभावशीलता असंदिग्ध है। यथा —

" जैसा संगु भिसीअर सिउ है रे तैसो ही इहु पर गृह।"[1]

अर्थात् पर-स्त्री-गमन वैसा ही होता है जैसी सर्प की संगति। सर्प की संगति से जिस प्रकार नाश अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार पर-स्त्री-गमन से भी नाश को प्राप्त होना अटल है। पर-स्त्री-गमन के दोष की भीषणता को व्यक्त करने के लिए इन्होंने जिस 'विषधर' को उपमान-रूप में ग्रहण किया है, वह सर्वविदित सर्वाधिक है। इसीलिए इस पंक्ति के भाव को ग्रहण करने में पाठकों या श्रोताओं को कोई कठिनाई नहीं होती है, वरन् इससे वक्तव्य का प्रभाव भी बढ़ गया है। इसी प्रकार —

" जिउ बैसंतर कासट महारि बिनु संजमु नहीं करज सार।"[2]

इस पंक्ति में संयम की महत्ता को काष्ठ में निहित अग्नि के माध्यम से व्यक्त किया गया है। काष्ठ में अंतर्निहित अग्नि की भाँति संयम के द्वारा कार्य-सिद्धि की जा सकती है। काष्ठ में अग्नि छिपी होती है, इसे सभी जानते हैं, अतः न तो इस उपमान को समझना ही कठिन है और न इसके द्वारा पोषित भाव को ही।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-5-127, पृष्ठ 403

2 वही, महला 5, पद 2-1-34, पृष्ठ 535

उन्होंने प्रायः एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए और उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं अनेक उपमानों का एक ही साथ प्रयोग किया है । जैसे —

" जैसी मछुली नीर इकु बिनु थी न धीरे मन ऐसा नेहु करेहु ।
जैसी चात्रिक पिआस बिनु बिनु बूंद सभै वरसु सुहावे मेहु ॥ "[1]

यहाँ 'मछली और चात्रिक' दो उपमान हैं जिनसे एक ही भाव की — अनन्य प्रेम की — अभिव्यक्ति की गई है और लोगों को कहा गया है कि वे भी इसी प्रकार के अनन्य भाव से परमात्मा से प्रेम करें । इन दो उपमानों के कारण भाव में द्विगुणित प्रभावशीलता आ गई है ।

" सिंघ सभै सद भोजनु मास । रणु देखि सूरे चित उलास ।
किरपन कउ अति धन पिआरु । हरिजन कउ हरि हरि आधारु ॥ "[2]

जैसे शेर को हमेशा मांस का भोजन ही प्रिय होता है, युद्ध को देखकर शूरवीर के मन में प्रसन्नता होती है, तथा कंजूस को धन से प्रेम होता है, उसी प्रकार भक्त के मन में तो प्रभु के नाम का आधार हमेशा रहता है ।

इन पंक्तियों में तो मुख्यार्थ भक्त के लिए भगवान के चरणों की महत्ता है । इसी अर्थ की पुष्टि के लिए ही सिंह, वीर तथा कृपण की उपमाएँ दी गई हैं । और —

" जिउ मंदर कउ थामै थमनु । तिउ गुर का सबदु मनहि असथमनु ।
जिउ पाखाण नाव चढ़ि तरै । प्राणी गुर-चरण लगतु निसतरै ॥
जिउ अंधकार दीपक परगासु । गुर दरसनु देखि मनि होई बिगासु ।
जिउ महा उदिआन महि मारगु पावै ।
तिउ साधु संगिमिलि जोति प्रगटावै ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-4, पृष्ठ 454
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 1180
3 वही, महला 5, पद 8-15, पृष्ठ 282

जिस प्रकार स्तम्भ घर के छत को सहारा देता है उसी प्रकार गुरू के शब्द मन को सहारा देते हैं । जैसे पत्थर भी नाव पर चढ़ कर पानी सागर को पार कर लेता है, उसी प्रकार मनुष्य भी गुरू चरणों का सहारा पाकर भवसागर को पार कर लेता है । जैसे दीपक अंधकार को दूर करके प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार गुरू के दर्शन से मन का अज्ञानांधकार दूर हो जाता है और ज्ञान-रूपी प्रकाश फैल जाता है । जैसे घने जंगल में भटका हुआ कोई व्यक्ति रास्ता पाकर प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार साधु-संगति से मनुष्य को प्रभु की ज्योति के दर्शन होते हैं जिससे उसको प्रसन्नता मिलती है ।

इसमें भी मुख्यार्थ 'गुरू-महिमा' है जिस का अनेक उपमानों द्वारा वर्णन किया गया है जिससे भाव में अधिक ग्राह्यता आ गई है । मीरां का काव्य-प्रयोजन कला-प्रदर्शन नहीं, वरन् उसके माध्यम से जन-साधारण में आध्यात्मिकता का प्रचार करना है । इसीलिए इनमें एक ही पद में एक ही भाव की अभिव्यक्ति प्रायः कम मिलती है । अधिकांशतः इनके एक पद में अनेक भाव होते हैं । एक पद में भिन्न भिन्न आध्यात्मिक भावों का समावेश करके भिन्न-भिन्न उपमाओं द्वारा उनको मार्मिक बनाना इनकी कवि-प्रतिभा की विशेषता है । यथा —

" अब मौरा नाचनो रह्यो ।
साधु रंगीला सहजे पाइओ सतिगुर बचनि लह्यो ।
कुआर कनिआ जैसे संग सहेरी पिअ बचन उपहास कह्यो ।
जउ सुरिजन गृह भीतरि आइओ तब मुख काजि लज्यो ॥
जिउ कनिको केहारी बहिओ बावरी डोल फिरो ।
जब ते सुध मए है बारहि तब ते थान थिरो" ।
जउ बिन रैनि तउ तउ बजिओ मूरत धरी पलो ।
बजावन हारो उठि सिधारिओ तब फिरि बाजु न भइओ ।

जैसे कुंभ उदक पूरि आनिओ तब इहु मिन दूसटो ।
कहु नानक कुंभ भते भंडि डारिओ ओहो अंभ मिसे ।"[1]

अब मेरी भटकन समाप्त हो गई है, क्योंकि गुरु के वचनों के द्वारा मैंने सुन्दर प्रभु को प्राप्त करली है । जिस प्रकार कोई कुंवारी लड़की, अपनी सखियों से अपने ससुराल की बातें हंस हंस कर करती है, परन्तु जब उसका पति घर आ जाता है तो वह लजाकर अपना मुंह ढंक लेती है । जिस प्रकार कुठाली में पड़ा हुआ सोना पिघल कर पागलों की भांति इधर-उधर घूमता है । परन्तु जब वह शुद्ध सोना बन जाता है तो उसकी भटकन समाप्त हो जाती है । जब तक मनुष्य का जीवन रहता है, तब तक (आयु बीतने की सूचना देने के लिए घण्टे के द्वारा) मुहूर्त, घड़ी, पल बजते रहते हैं । परन्तु जब इनको बजाने वाला इस संसार से कूच कर जाता है तो उनका बजना भी बंद हो जाता है । जिस प्रकार जब कोई घड़ा पानी से भर कर लाया जाए, तब वह पानी अन्य पानी से भिन्न दिखाई देता है, परन्तु जब वह घड़ा पानी में डाल देते हैं तो उसका पानी दूसरे पानी में मिल कर एक हो जाते हैं ।

इस पद में गुरु-महिमा, आत्मा-परमात्मा का दाम्पत्य भाव, प्रभु-महिमा, जीवन की नश्वरता तथा आत्मा-परमात्मा का अद्वैत सम्बन्ध, इन चार भावों की अभिव्यक्ति की गई है और इस अभिव्यक्ति की पुष्टि के लिए भिन्न-भिन्न उपमानों का प्रयोग किया गया है ।

कहीं-कहीं एक ही विषय के भिन्न रूपों का वर्णन करने के लिए भिन्न-भिन्न उपमानों का प्रयोग करके वर्ण्य-विषय को अधिकाधिक मार्मिक और प्रभावशाली बनाया गया है । निम्नलिखित पद में ब्रह्मज्ञानी के विभिन्न गुणों का विभिन्न उपमानों द्वारा वर्णन है —

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-3, पृष्ठ 1203

" ब्रह्म गिआनी सदा निरलेप ।
जैसे जल महि कमल अलेप ।
ब्रह्म गिआनी सदा निरदोख ।
जैसे सूरु सरब कउ सोख ।
ब्रह्म गिआनी के दृसटि समानि ।
जैसे राज रंग कउ लोग तुलि पवान ।
ब्रह्म गिआनी को धीरज एक ।
जिउ वसुधा कोऊ खोदै कोउ चंदन लेप ।
ब्रह्म गिआनी का इहै गुनाउ ।
नानक जिउ पावक का सहज सुभाउ ।
ब्रह्म गिआनी निरमल ते निरमला । जैसे मैल न लागै भला ।
ब्रह्म गिआनी के मनि होई प्रगासु ।
जैसे घर अंदरि आकासु ।" [1]

इन पंक्तियों में कमल, सूर्य, पवन, वसुधा, पावक, जल और आकाश उपमान हैं जिनके द्वारा ब्रह्मज्ञानी के निर्लिप्त, निर्दोष, समदृष्टि, धैर्य, समभाव, निर्मल और अलक्ष्योक्ति गुणों का वर्णन किया गया है । इन उपमानों से वक्तव्य अधिक प्रभावशाली बन गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

उपमा की भाँति इन्होंने रूपक का भी बहुलता से प्रयोग किया है । वस्तुतः यह प्रयोग इनके लिए अनिवार्य भी था, क्योंकि अर्थालंकारों में उपमा के पश्चात् रूपक ही ऐसा अलंकार है जो अधिकाधिक भावों को स्वयं में निहित कर सकता है । इनकी वाणी जन-सामान्य को उपदेश देकर भक्ति की ओर अग्रसर करने के लिए व्यक्त हुई थी, इसलिए इन्होंने रूपक-प्रयोग के अन्तर्गत उन्हीं उपमेय और उपमानों को ग्रहण किया है जो परम्परागत हैं और जन-साधारण के लिए सहज बोधगम्य हैं ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-8, पृष्ठ 272

इसी कारण इनकी वाणी में सरलता और बोधगम्यता प्राय: सर्वत्र मिलती है । रूपक से सम्बद्ध इनकी वाणी की सरलता का दूसरा कारण यह भी है कि इन्होंने रूपकों का लम्बा वितान नहीं बाँधा । परिणामत: इनकी वाणी में निरंग रूपकों की सांगरूपकों की अपेक्षा अधिक संख्या मिलती है । यथा —

" गुरु तीरथु गुरु पारजातु गुरु मनसा पूरणहार ।
गुरु दाता हरिनामु देई उधरै सभ संसार ।"[1]

गुरु तीर्थ है, गुरु ही सब इच्छाओं को पूरा करने वाला पारिजात वृक्ष है, गुरु ही हरि का नाम देने वाला दाता है, जिसकी कृपा से समस्त प्राणी भवसागर से पार उतर जाते हैं ।

यहाँ गुरु पर तीर्थ, पारिजात वृक्ष और दाता का तथा संसार पर सागर का अभेद आरोप है ।

" धरम धरती, सरीरु जुग अंतरि जो बोवै सो खाति ।
कहु नानक जगत सोहहि दरबारे मनमुख सदा भवाति ।"[2]

अपने जीवन में मनुष्य जिस प्रकार के कर्मों की खेती करता है उसी प्रकार के फल भोगता है । प्रभु भक्त तो परमात्मा के घर पर सम्मान पाते हैं, परन्तु अपने मन की इच्छा से चलने वाले सदा आवागमन के चक्कर में ही पड़े रहते हैं ।

यहाँ कर्मों पर धरती का अभेद आरोप है ।

" गिआन अंजनु गुरि दीया अगिआन अंधेर बिनासु ।
हरि किरपा ते संत भेटिया नानक मनि परगासु ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-29-99, पृष्ठ 52

2 वही, महला 5, पद 5-1-4, पृष्ठ 77

3 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 293

गुरु ने मुझे ज्ञान-रूपी अंजन दिया, जिससे अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश हो गया। प्रभु की कृपा से जिस मनुष्य को गुरु की प्राप्ति होती है उसके मन में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

यहाँ ज्ञान पर अंजन का, अज्ञान पर अन्धकार का, गुरु पर दीपक का अभेद आरोप है।

गुरु अर्जुनदेव ने सांगरूपकों की भी योजना की है, पर इनकी योजना में वह दुरूहता नहीं है जो प्रायः इस प्रकार के योजनाकारों में मिलती है। उदाहरण के लिए संत कबीर का निम्नलिखित पद प्रस्तुत है —

" दुलहनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार
तन रत करि मैं मन रत करिहूं पंचतत करातें।
रामदेव मोरे पाहुने आए मैं जीवन मैं माती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लेहूं, धनि धनि भाग हमार।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी।"[1]

इस पद में विवाह का सांगरूपक के माध्यम से वर्णन किया गया है, किन्तु यह वर्णन इतना दुरूह बन गया है कि साधारण पाठक इसके अभीष्टार्थ तक आसानी से नहीं पहुँच सकता। गुरु अर्जुनदेव के सांगरूपकों में ऐसी दुरूहता नहीं है। यथा —

" निज अगनी सीलवंती नारि। सच अनूप पूरी आचारि।
जितु गृहि वसै सो गुह सोभावंता। गुरमुखि पाई किने विरले जंता।
सुकरणी कामणि गुरु मिलि हम पाई। चलि काजि परधाई सुहाई।"[2]

---

1 कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक डा. श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ 69
2 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-5, पृष्ठ 370

यहाँ पर प्रेमित पर शीलवती नारी का अंगों-साहित अभेदारोपण से सांगरूपक की योजना तो है, साथ ही अपेक्षित सरलता भी है ।

इन अलंकारों की ही भाँति अन्य अनेक अलंकार भी स्वाभाविक रूप से इनकी वाणी को अलंकृत करते हैं । यथा —

" माथै त्रिकुटी दृसटि करोर ।
बोलै कउड़ा मिठ्वा की कोर ।
सदा सुखी पिरु जाने दूरि ।
ऐसी इसत्री इक रामि उपाई ।
उनि सभु जगु खाइआ इम गुरि राखे मेरे भाई ।"[1]

यहाँ पर केवल उपमान (स्त्री) का कथन होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।

" बिआनी बिआनु लावहि । गिआनी गिआनु कमावहि ।
प्रभु किनही जाता ।"[2]

यहाँ कारण के होते हुए भी कार्य का न होने का वर्णन होने से विशेषोक्ति अलंकार है ।

" बरमी बारी सांपु न मरई नाम न सुनई डोरा ।
माइआ की किरति छोड़ि गवाई मगती सार न जाने ।
वेद सासत्र बेड तरकनि लागा ततु जागु न पछाने ।
उथरि गइआ जैसा खोटा ढबूआ नदरि सराफ आइआ ।
अंतरजामी सभु किछु जाने उस ते कहा छपाइआ ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-2-96, पृष्ठ 394
2 वही, महला 5, पद 8-2, पृष्ठ 71
3 वही, महला 5, पद 4-3-42, पृष्ठ 381

यहाँ पर सामान्य कथन का विशेष कथन से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

दृष्टिकूट

संत-कवियों में दृष्टिकूटों की रचना का भी प्रचलन रहा है । यद्यपि दृष्टिकूट सुबोध नहीं होते, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में यह परम्परा आदिकाल से ही मिलती है जिसका पूर्ण विकास निर्गुण और सगुण कवियों में दृष्टिगोचर होता है । इन्होंने भी अनेक दृष्टिकूटों की रचना की है । यथा —

" अधम चंडाली मई ब्रह्मणी सुदी ने भेसटाई रे ।
पताली अकासी सबनी लहर बुझी खाई रे ।
घर की बिलाई अवर सिंघाई मूसा देखि डराई रे ।
अज के बसि गुरि कीनो केहरि कूकर तिनहि लगाई रे ।
बाघु घुनिआ छपरा खाण्डिआ नीचरीआ घरु पाइआ रे ।
बिनु जड़ीए लैजड़ियो उड़ावा वेचा अवरु लाइआ रे ।
दादी (दो) ग्राव न पहुंचन हारा चुपी निरनउ पाइआ रे ।
मति दुलीचै बैठो ले थिरतकु नैन बिसालनु धाइआ रे ।
सोई अजानु कहै मै जाना जानणहारु न छाना रे ।
कहु नानक गुरि अमिउ पीआइआ रसकि रसकि बिगसासा रे ।"[1]

है भाई ! नाम-अमृत की कृपा से अति नीच कुल चांडाल स्त्री भी ब्रह्मण बन गई, और शूद्र से उच्च कुल की हो गई । उसकी जो इच्छा पहले पाताल से लेकर आकाश तक संसार के समस्त पदार्थ खाकर भी शांत नहीं होती थी, अब उसकी वह तृष्णा भी शांत हो गई । उसकी मनोवृत्ति-रूपी बिल्ली अब अन्य प्रकार की शिक्षा लेती है । वह लालच करने में शर्माने लगी है । गुरू की कृपा से उसका अहंकार-रूपी शेर नम्रता-रूपी बकरे के वश में हो गया है ।

---

1 श्री गुरूग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-5-44, पृष्ठ 381

गुरू ने उसके तामसिक स्वभाव को सात्विक बना दिया है ।

हे भाई ! जिस मनुष्य को गुरू ने नाम-रूपी अमृत पिला दिया है, उसका मन-रूपी छप्पर सांसारिक पदार्थों की आशा-रूपी स्तम्भों के बिना ही टिक जाता है और उसके भटकते हुए मन को शान्ति (प्रभु-शरण) मिल जाती है । सुनारों की सहायता के बिना ही उसके मन का जड़ाऊ आभूषण तैयार हो गया है, और उस आभूषण में परमात्मा के नाम का सुन्दर नग लगाया गया है । प्रभु-चरणों से विलग होकर मनुष्य न्याय प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् अपनी प्रशंसा नहीं सुन सकता, परन्तु जब नाम-रूपी अमृत पी लेता है तो उसको न्याय मिल जाता है । प्रभु की कृपा से उसकी अहंकारपूर्ण वृत्ति जब उसको आत्मिक मृत्यु से मृतक दिखाई देने लगती है । यह कहने वाला मनुष्य कि मैंने जीवन के रहस्य को समझ लिया है, मूर्ख है । क्योंकि जो इस भेद को समझ लेता है वह छुप नहीं सकता । गुरू ने जिसको आत्मिक जीवन देने वाला नाम-रस (अमृत) पिला दिया, वह सदा इसका स्वाद ले लेकर ही जीवित रहता है ।

" गरू कउ चारे सारद्तु । कउड़ी का लाल हुआ मूलु ।
बकरी कउ हसती प्रति पाले । अपना प्रभु नदरि निहाले ।
कृपानिधान प्रीतम प्रभु मेरे । वरनि न साकउ बहु गुन तेरे ।
दीसत मास न खाई बिलाई । महा क्रसाबि छुरी सटि पाई ।
करणहार प्रभु हिरदै वूठा । फाही मछुली का जाला तूटा ।
सूके कासट हरे चलूल । उजै खीलि फूले कमल अनूप ।
अगनि निवारी सतिगुर देव । सेवकु अपनी लाइओ सेव ।
अकिरतघणा का करे उधारु । प्रभु मेरा है सदा दइआरु ।
संता जना का सदा सहाई । चरण कमल नानक सरणाई ।"[1]

---

1 श्री गुरूग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-39-50, पृष्ठ 898

है प्रभु ! तेरे गुण अवर्णनीय हैं । तेरी कृपा से ही शेर (मनुष्य का मन) गाय को (ज्ञानेन्द्रियों को) पालता है, अर्थात् वश में कर लेता है । अहंकार के कारण मदमत्त हुआ मन प्रभु-कृपा से बकरी बन जाता है (नम्र हो जाता है), और स्वयं को बुरे कर्मों से बचाता है । विषय-वासनाओं में फंसा रहने के कारण मनुष्य अपना महत्व खो बैठता है, परन्तु जब प्रभु की कृपा से वह अच्छे कार्य करने लगता है तो उसका महत्व भी बढ़ जाता है । प्रभु-कृपा से ही बिल्ली (मन) सामने पड़ा हुआ मांस नहीं खाती (बुरे कर्म नहीं करता)। बहुत बड़े कसाई ने भी अपने हाथ से छुरी फेंक दी, और जाल में फंसी हुई मछली का जाल टूट गया । (अर्थात् बुरे कर्मों में फंसे रहने वाले मन ने बुरे काम छोड़ दिए और मोहमाया के बन्धनों को तोड़कर वह प्रभु-स्मरण के लिए स्वतन्त्र हो गया । प्रभु-कृपा से सूखे काष्ठ हरे हो गए, ऊंचे टीलों पर कमल के फूल खिल उठे । गुरु ने अपना सुन्दर उपदेश देकर मन की तृष्णाग्नि को समाप्त कर दिया और अपनी सेवा में लगा लिया ।

हे भाई ! मेरा प्रभु बहुत दयालु है, क्योंकि वह कृतघ्न व्यक्तियों की भी सहायता करता है । संतजन हमेशा उसके चरण-कमलों की शरण में ही रहते हैं ।

अलंकारों के सफल प्रयोगों के होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि अलंकारों का प्रयोग या तज्जन्य चमत्कार इनका साध्य नहीं था । दूसरों को उपदेश देने के लिए इनके भक्त-हृदय से जो आवेश फूटा, वही स्वाभाविक रूप से अलंकृत होकर भावों के प्रभाव का उत्कर्षक बन गया ।

प्रतीक-विधान

अलंकारों की भांति प्रतीक भी भाषा की शक्ति को बढ़ाने वाले तथा भावों को अधिक प्रभावशाली बनाने वाले होते हैं । इसलिए प्रतीकों और अलंकारों में पर्याप्त साम्य है । अप्रस्तुत उपमानों के द्वारा जिस प्रकार प्रस्तुत

अर्थ को अधिक भावपूर्ण बनाने के लिए काव्य में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार प्रतीक का प्रयोग भी अप्रस्तुत को अधिक भावव्यंजक एवं स्पष्ट करने के लिए ही किया जाता है । प्रतीक और अलंकार के भेद का मूलाधार सादृश्य या साधर्म्य है । प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं होता, जबकि अलंकार का मूलाधार यही होता है ।

प्रतीकों का क्षेत्र विशाल है । जीवन और जगत् के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र से प्रतीकों का जन्म हुआ है, इसलिए इनकी कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती । आध्यात्मिक क्षेत्रों में तो प्रतीकों का महत्व असंदिग्ध है ही, अतः संत-कवियों ने अव्यक्त एवं परम रहस्यमय अगोचर ब्रह्म को तथा उसके साथ तदाकार के चरम आनन्दातिरेक को प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त किया है । संत-साहित्य में प्रयुक्त हुए प्रतीकों को स्थूलतः इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(1) साधना पद्धति से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक प्रतीक — गगनगुफा, गगनमंडल, चंद, सूर, घट, डाइनि, बाघिनी, औंधा कुंवा, ज्योति, अवधू, नाव, बिंदु, सहज आदि ।

(2) संख्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त प्रतीक — एकैकुंवा, दोयपुर तीनि भगाती, पंचचोर, पाचौनाग, पांच किरसाना, सात समुद, सात सुत, पंचनारि, छ्यन कोटि, तेतीस करोड़ी, सवालाष, चौरासी लाष आदि ।

(3) साम्य-अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक — जंत्र, मंदिर, हीरा, तरवर, पंखि, गज, बनमाली, मृग, खेत, गाउ, दुलहिनी, बालम, राजा, बाँधी, बिसहर, गारड़ू, बालक, मइतारी आदि ।

(4) उत्पत्तिसियों के प्रतीक — मछ, सिंधु, समुंदर, नीर, आगि, मुआ, काल, मिरिग, ससा, हरिनि, चीता, काग, अहेर, बाज, मुख, मंजार, स्यारि, स्वान, भुवंगा, बैल, गाड, बछरा, डाडुर, सर्प आदि ।

गुरु अर्जुनदेव की वाणी में इनमें से अधिकांश प्रतीकों का प्रयोग हुआ है जो बहुत ही भाव-व्यंजक है । सांसारिक अज्ञान और मोह-माया के बंधन को इन्होंने अंधकूप प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है —

1 "अंधकूप महि हाथ दे राखहु कहु सिआनप उकति न मोरी ।"[1]

2 " तम अंधकूप ते उधारे नाम मनु बसाइ ।"[2]

3 " अंधकूप महि पतित बिकराल । नानक काढलेहु प्रभु दइआला।"[3]

4 " बहुत घोर अंधकूप महि निकसिउ मेरे भाई ।"[4]

5 " अनिक पाप मेरे पर हरिआ बंधन काटे मुकत भए ।
अंधकूप महा घोर ते बांह पकरि गुरु काढि लिए ॥"[5]

कहीं-कहीं इन्होंने अंधकूप के स्थान पर 'संसार-कूप' का भी प्रयोग किया है —

" संसार कूप ते उधरि ले बिआपि नानक हरि सरणाई ।"[6]

क्रोध, काम, लोभ, मोह और मद के लिए इन्होंने पंचजना, पंचदूत, पंच, पंचदुष्ट आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है । यथा —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-23-234, पृष्ठ 208

2 वही, महला 5, पद 4-3, पृष्ठ 248

3 वही, महला 5, पद 8-4, पृष्ठ 267

4 वही, महला 5, पद 4-26, पृष्ठ 377

5 वही, महला 5, पद 4-9-48, पृष्ठ 383

6 वही, महला 5, पद 8-3-1-3, पृष्ठ 432

1 "गुरपुरे का शबद रिद अंतरि धारे पंच जना सिउ संग निवारे।"[1]

2 " गुर पूरे मिलि अगरु चुकाइआ । पंचदूति सभि वसगति आइआ।"[2]

3 " सुंदर सुघर सरूप सिआने पंचहु डी मोही छली रे ।"[3]

4 " गुहजनि आइआ मंगलु गाइआ पंच दुसट औडि भागि गइआ ।"[4]

'नारी' प्रतीक का प्रयोग गुरु अर्जुनदेव ने आत्मा और इन्द्रियों के अर्थ में किया है । यथा —

1 " वर नारी मिलि मंगलु गाइआ ठाकुर का जैकारु । "[5]

2 " दस नारी अवधूत देनि वमोही रे ।"[6]

अगवत-रहस्य के लिए इन्होंने 'महल' प्रतीक का प्रयोग किया है । यथा —

1 " सचु महलु घरु पाइआ गुरु का सबद पछानु ।"[7]

2 " चतुर वेद मुख बचनी उचरि आगे महलु न पाइए ।"[8]

3 " गुरु सेवा महलु पाइए जग दुतरु तरीऐ ।"[9]

4 "तिन्ह कउ महलु दुलभावउ ।"[10]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-3, पृष्ठ 236
2 वही, महला 5, पद 4-4-98, पृष्ठ 395
3 वही, महला 5, पद 2-3-132, पृष्ठ 404
4 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 452
5 वही, महला 5, पद 2-23, पृष्ठ 532
6 वही, महला 5, पद 15, पृष्ठ 522
7 वही, महला 5, पद 4-11, पृष्ठ 46
8 वही, महला 5, पद 4-6-164, पृष्ठ 216
9 वही, महला 5, पद 4-14-116, पृष्ठ 399
10 वही, महला 5, पद 4-1-131, पृष्ठ 401

योगपरक प्रतीकों का भी इन्होंने परम्परागत अर्थों में प्रयोग किया है। यथा —

1 "सहजे आसणु असथिरु भाखा।
सहजे अनहत सबदु सु वजाइआ।"[1]

2 " तह सदा आनन्द अनहत आवारे।"[2]

3 " सुनं समाधि अनहत तह नाद। कहनु न जाई अचरजु बिसमाद।"[3]

4 " जै जै सबदु अनाहदु बाणी। सुनि सुनि आनन्द करे प्रभु गाणी।"[4]

5 " रवाबु पखावज तात घुंगरू अनहद सबद वजावै।"[5]

6 " जनम मरण दुखु काटीऐ लागै सहजि धिआनु।"[6]

7 "तह सुनि सहजि समाधि लागी एकु एकु वखाणी है।"[7]

इनके अतिरिक्त भुअंगम,[8] कुंभ,[9] अवधू,[10] साध[11] विषधर,[12] आदि

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-3, पृष्ठ 836
2 वही, महला 5, पद 8-4, पृष्ठ 237
3 वही, महला 5, पद 8-23, पृष्ठ 293
4 वही, महला 5, पद 8-24, पृष्ठ 295
5 वही, महला 5, पद 4-4-43, पृष्ठ 381
6 वही, महला 5, पद 4-12, पृष्ठ 546
7 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 577
8 वही, महला 5, पद 1-3, पृष्ठ 641
9 वही, महला 5, पद 43, पृष्ठ 1202
10 वही, महला 5, पद 15, पृष्ठ 522
11 वही, महला 5, पद 4-3-42, पृष्ठ 381
12 वही, महला 5, पद 4-5-127, पृष्ठ 403

प्रतीकों का भी इन्होंने सफल प्रयोग किया है । इनकी प्रतीक-योजना को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सन्त-कवियों की भाँति इन्होंने भी जिस प्रकार की भावाभिव्यक्तियों के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया है, वे उन भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं ।

काव्य – गुण

गुणों का भाषा की आन्तरिक विशेषता से सम्बन्ध होता है, इसीलिए इन्हें काव्य शोभा के कर्ता-धर्म बताया गया है ।[1] गुण रसाश्रित होते हैं और इसी कारण रस का उत्कर्ष करते हैं । काव्यगुण तीन प्रकार के माने जाते हैं — माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण ।

ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर स्पर्श वर्ण वर्गान्त वर्ण से युक्त अर्थात् अनुस्वार सहित वर्ण, ह्रस्व, 'र' और 'ण' समास का अभाव, अथवा दो-तीन या अधिक से अधिक चार पद मिले हुए समास, और मधुर कोमल पद रचना ये सब माधुर्य गुण के व्यंजक हैं । गुरु अर्जुनदेव की वाणी में संगीतात्मकता की प्रधानता होने के कारण तथा इनका उद्देश्य जन-साधारण को उपदेश देने के कारण इनकी भाषा में माधुर्य गुण की बहुलता होना स्वाभाविक ही है । यथा —

" रंग संगि विखिआ के भोगा इन संगि अंध न जानी ।
इउ संचउ इउ बाटता सगली अवध विहानी । रहाउ ।
इउ सुरा परधानु इउ को नाही मुख ही समानी ।
जोबनवंत आचार कुलीना मन मोह होई गुमानी ।
जिउ उलझाइओ बाध बुधि का भरतिआ नाही बिसरानी ।
भई मीत कंचन सबे पाछे तिनहु कउ संपानी ।
जितु लागो मनु वासना अंति सार न पगटानी ।

---

1. " काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।"
— हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, 3-1-1

~~किंतु~~
अह बुधि सुधि करम करि इह बंधन बंधानी ।
दइआल पुरख किरपा करहु नानक दास दसानी ।"[1]

इस पद में प्रयुक्त शब्द मधुर और समासहीन होने से माधुर्य गुण के व्यंजक हैं । अतः इस सम्पूर्ण पद में प्रारम्भ से अंत तक माधुर्य गुण विद्यमान है । इसी प्रकार निम्नलिखित पद में भी माधुर्य गुण वक्तव्य का उत्कर्षक है —

"चरन कमल की आस पिआरे । जय कंकर नीसि गए विचारे ।
तू चिति आवहि तेरी सेवा । सिमरत राम सगल रोग खेवा ।
अनिक दुख देवहि अवरा कउ । पहीचि न साकहि जन तेरे कउ ।
दरस तेरे की पिआस मन लागी । सहज आनंद बसे बैरागी ।
नानक की अरदास सुणीजै । केवल नामु रिदे महि दीजै ।"[2]

जिस भाषा में ट, ठ, ड की अधिकता और समासों का बाहुल्य होता है, वह ओज-पूर्ण सम्पन्न भाषा कही जाती है । सतों का मुख्य कार्य भक्ति का प्रचार करना था, इसलिए उन्हें ओजपूर्ण भाषा की कम ही आवश्यकता पड़ी । गुरु अर्जुनदेव की 'बावन अखरी' में अवश्य ही ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं जो ओजस गुण से सम्पृक्त हैं । यथा —

"डाड न लागै धरम राइ किनहि न घालिओ बंध ।
नानक उबरे जपि हरि साध संगि मन मंध ।
पउड़ी । ढहा ढहत कर फिरहु ढूढन इआ मन माहि ।
संगि सुहारे प्रभु बसै बनु बनु कहा फिराहि ।
ढेरी डाहहु साध संगि अहंबुद्धि बिकरात ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-3-15, पृष्ठ 242
2 वही, महला 5, पद 4-26-77, पृष्ठ 389

सुखु पावहु सहजे वसहु दरसनु देखि निहाल ।
मोह जाले जमि मरे गरभ जोनि दुख पाइ ।
मोह मगन लपटत रहे इउ इउ आवै जाइ ।
डहत डहल अवडीह परे साध जना सरनाइ ।
दुख के फाटे काटिआ नानक कसीस समाई ।" [1]

इन पंक्तियों में टवर्ग की प्रधानता होने से ओज गुण है ।

शब्द को सुनते ही जिसका अर्थ समझ में आ जाए उसे प्रसाद गुण कहते हैं । सहज, सुगमता एवं बोधता इस गुण का प्राण है । गुरु अर्जुनदेव की भाषा में माधुर्य गुण की भाँति इस गुण का भी प्राचुर्य है । ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि इनका काव्य जन-साधारण के लिए था । प्रसाद गुण का एक उदाहरण प्रस्तुत है —

" दरसनु देखि जीवां गुर तेरा । पूरन काम होई प्रभ मेरा ।
इह बेनंती सुनि प्रभु मेरे । देहि नामु करि अपने चेरे ।
अपणी सरणि राखु पुरख दाते । गुर प्रसादि किने विरले जाते ।
सुनहु बिनउ प्रभु मेरे मीता । चरण कमल बसहि मेरे चीता ।
नानकु एकु करै अरदासि । बिसरु नाहि पूरन गुणतासि ।" [2]

यही अर्थ की सहज सुगमता होने से प्रसाद गुण है ।

शब्द-शक्ति

काव्य में जितना महत्व अर्थ का होता है, उतना ही शब्द का भी होता है । इसीलिए शब्दार्थ के हितकारक समन्वय को काव्य कहा गया है । [3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 30, पृष्ठ 256

2 वही, महला 5, पद 4-18-24, पृष्ठ 741

3 "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् "
— काव्यालंकार (भामह)

परिणामतः आचार्यों ने शब्द-शक्तियों का भी विवेचन किया है । इन शक्तियों का क्षेत्र शब्द-विशेष से लेकर व्यंजित अर्थ तक होता है । शब्द-शक्तियों के तीन भेद हैं — अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना । साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा, लाक्षणिक अर्थ का बोध कराने वाली शब्द-शक्ति को लक्षणा तथा व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शब्द-शक्तियों को व्यंजना कहते हैं । गुरू अर्जुनदेव की वाणी में इन तीनों शब्द-शक्तियों का सहज प्रयोग मिलता है । यथा —

" जाचक जनु जाचै प्रभु दानु. करि किरपा देवहु हरि नाम ।
साध जना की मांगउ धूरि । पारब्रह्म मेरी सरधा पूरी ।
सदा सदा प्रभ के गुन गावउ । साति साति प्रभु तुमहि धिआवउ ।
चरन कमल सिउ लागै प्रीति । भगति करउ प्रभु की नित नीति ।"[1]

इस पद में कवि ने अपना वक्तव्य सीधे-सादे ढंग से व्यक्त किया है । इस अर्थ को ग्रहण करने में किसी प्रकार की लाक्षणिकता या व्यंग्यात्मकता का सहारा नहीं लेना पड़ता । अतः यहाँ अभिधा शब्द-शक्ति है ।

यदि शब्द के मुख्यार्थ अर्थात् अभिधा द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ को ग्रहण न करके उससे सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण किया जाए तो उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं । जिस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है उसे लक्षक कहते हैं और इस अर्थ को बताने वाली शब्द-शक्ति का नाम लक्षणा है । इसके दो भेद होते हैं — रूढ़ लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा । जिस शब्द-शक्ति से प्रचलित परम्परा अर्थात् रूढ़ि के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसे रूढ़ि लक्षणा शब्द-शक्ति कहते हैं । गुरू अर्जुनदेव की वाणी में रूढ़ि-लक्षणा के अनेक प्रयोग मिलते हैं । यथा —

" हरि चरण कमल मन बेधिआ किछु आन न मीठा राम राजे ।"[2]

---

1 श्री गुरूग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 8-20, पृष्ठ 289

2 वही, महला 5, पद 4-1-3, पृष्ठ 453

यहाँ 'चरण कमल मन बेधिआ' में बाध्यार्थ का बोध है, क्योंकि न तो चरण कमल मन को बाँध सकते हैं और न सूक्ष्म होने के कारण मन बिंध सकता है। सीधे से इसका लक्ष्यार्थ है - चरणकमलों में मन की आसक्ति होना। अतः यहाँ सीधे लक्षणा शब्द-शक्ति है। इसी प्रकार —

" मोह रोग सोग तनु बाधिओ बहु जोनी भरमाइए।"[1]

यहाँ भी 'मोह रोग सोग' के द्वारा तन को बाँधना मुख्यार्थ में बाध है। लक्ष्यार्थ है - मोह, रोग, रोग के द्वारा शरीर को कष्ट होना। अतः यहाँ भी सीधे लक्षणा शब्द-शक्ति है।

जहाँ किसी प्रयोजन के कारण शब्दों के मुख्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ का बोध हो, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा शब्द-शक्ति होती है। इनकी वाणी में इस शब्द-शक्ति का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। यथा —

" उदमु अगमु अगोचरो चरन कमल नमसकार।"[2]

'चरन' और 'कमल' दो भिन्न पदार्थ हैं, दोनों एक नहीं हो सकते। अतः इनमें मुख्यार्थ का बोध है। परन्तु दोनों के गुण में साम्य भी है। प्रभु के चरण उसी प्रकार कोमल और शीतलता प्रदान करते हैं जिस प्रकार कमल। इसी गुण-साम्य के आधार पर चरण को कमल माना गया है। मुख्यार्थ में बाध होने पर सादृश्य सम्बन्ध के कारण दोनों पदार्थों में समानता होने से यहाँ गौणी प्रयोजनवती लक्षणा शब्द-शक्ति है। और —

" कामि क्रोध अहंकारि माते बिआपिआ संसारु।"[3]

संसार निर्गीर्व है, उसमें काम क्रोध आदि धर्मों का होना असम्भव है। अतः अन्वयानुपपत्ति भाव सम्बन्ध से संसार का अर्थ संसार में रहने वाले मनुष्यों का

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-22, पृष्ठ 532

2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 927

3 वही, महला 5, पद 4-25, पृष्ठ 51

होने से सुदृढ़ प्रयोजनवती लक्षणा शब्द-शक्ति है।

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के अतिरिक्त जिस किसी विलक्षण अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। जिस शब्द से ऐसे अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजक-शब्द कहते हैं। और जिस शब्द शक्ति से उस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजना शब्द-शक्ति कहते हैं। संतों का काव्य-प्रयोजन जन-सामान्य को उपदेश देकर भगवदोन्मुखी करना था, इसलिए व्यंजना शब्द-शक्ति का प्रयोग इनकी वाणियों में कम ही आया है। क्योंकि व्यंग्यार्थ जन-साधारण द्वारा सहज ग्राह्य नहीं होता। वैसे इस शब्द-शक्ति के उदाहरण भी इनकी वाणियों में सहज ही मिल जाते हैं। यथा —

" तुमरी कृपा ते जपीऐ नाऊ। तुमरी कृपा ते दरगह थाऊ।"[1]

भगवान् का दरबार होना मुख्यार्थ में बाध है। इसका व्यंग्यार्थ है जीवन-मुक्त होना। अतः यही व्यंजना शब्द-शक्ति है।

भाव यह है कि यद्यपि गुरु अर्जुनदेव ने अपनी वाणी में शब्द-शक्तियों का प्रयोजना-बद्ध प्रयोग नहीं किया है, तथापि वाणी की सहज प्रवृत्ति के कारण वे स्वतः इनके काव्य में मुखरित हो उठी हैं। इसलिए इनका काव्य सामान्य-जन के लिए सुबोध और भाव-प्रवण है।

संगीतात्मकता

प्रचार और प्रसार की दृष्टि से जिस काव्य की रचना की जाती है उसमें संगीतात्मकता का होना आवश्यक है, क्योंकि संगीतात्मकता के कारण वक्तव्य को सहज रूप से हृदयंगम किया जाता है; उसको स्मरण रखा जा सकता है और उसके प्रभाव को द्विगुणित किया जा सकता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में आदिकाल से ही संगीतात्मकता को महत्व दिया जाता रहा है।

---

1. श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-64, पृष्ठ 192

गीताकार ने तो संगीत को परमात्मा का ही रूप माना है ।[1] 'संगीत-रत्नाकरकार' के रचयिता शार्ङ्गदेव ने संगीत की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा है कि सर्वज्ञ पार्वती पति और देवता गीत से प्रसन्न होते हैं । अनन्त गोपीपति भी वंशीध्वनि के वश में हो गए, अतएव ब्रह्मा सामगान करते हैं, सरस्वती वीणा में आसक्त है, यक्ष, गंधर्व, देव, दानव और मानव आदि अन्यों की तो बात ही क्या ।"[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संत-कवि संगीत की इस महत्ता से परिचित थे । उनके साहित्य का मुख्य उद्देश्य धर्म का प्रचार और प्रसार था, इसलिए संगीतात्मकता की सुनिश्चित योजना का इनके काव्य में होना आवश्यक ही था । संत-कवियों में गुरु अर्जुनदेव इस क्षेत्र में अग्रणी माने जा सकते हैं । इनके काव्य में संगीत की योजना सर्वाधिक एवं सुनिश्चित है । ये संगीत के पूर्ण ज्ञाता थे और इनके काव्य में प्रयुक्त संगीत-योजना अनायास ही नहीं है । इनकी वाणी आद्य से इति तक संगीतात्मकता से ओतप्रोत है । इनकी संगीतात्मकता का विश्लेषण करने के लिए इसे तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - राग-योजना, तुक-योजना और छंद-योजना ।

---

1 वेदानां सामवेदोऽस्मि (मैं वेदों में सामवेद हूँ)
— गीता 10-22

2 " गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः ।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनि वशंगतः ।
सामगीतिरतोब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती ।
किमन्ये यक्ष गंधर्वदेव दानव मानवाः । "
— संगीतरत्नाकर, पृष्ठ 7

संगीत के माध्यम से भावों की उद्दीप्ति और उत्कर्ष में रागों का विशेष महत्व है, इसीलिए संत-कवियों ने विविध रागों को ग्रहण करके अपने वक्तव्य को अधिक रमणीय और प्रभावशाली बनाया है । गुरु अर्जुनदेव ने अपने काव्य में निम्नलिखित तीस रागों की योजना की है —

(1) श्री राग — श्री राग का अन्य रागों में मुख्य स्थान माना गया है । गुरु अमरदास ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है —

"रागां विचु सिरी रागु है जो सचि धरै पिआरु ।"[1]

गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 30 पद, 3 अष्टपदियाँ, एक पहिरे, दो छंत और एक श्लोक की रचना की है । शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द इस राग के उद्बोधक भाव माने गए हैं । भक्तों के अनुसार सांसारिक विषयों से विरक्त होकर परमात्मा की ओर उन्मुख होना शान्ति का कारण है । इस शान्ति से आत्मा को प्रसन्नता और आनन्द की प्राप्ति होती है । इसीलिए गुरु अर्जुनदेव ने इस राग के अन्तर्गत अनेक छंदों में जीव को सांसारिक विषयों से विमुख होने की चेतावनी दी है । यथा —

"किआ तू रता देखि के पुत्र कलत्र सीगार ।
रस भोगहि खुसीआ करहि माणहि रंग अपार ।
बहुत करहि फुरमाइसी बरतहि होइ अफार ।
करता चिति न आवई मनमुख अंध गंवार ।"[2]

जीव को सांसारिक विषयों के विमुख करने के लिए अनेक साधन हैं, जिनमें गुरु-सेवा, नाम-प्राप्ति, साधु-संगति आदि प्रमुख हैं । इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने इन विषयों का भी प्रभावशाली वर्णन किया है । यथा —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 3, पृष्ठ 43

2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 42

" सतिगुर की सेवा सो करे जिसु विचहु हउमै जाइ । "[1]

xx xx xx xx

" नाम विचार सो सुखी तिसु मुख उजलु होई । "[2]

xx xx xx xx

" तीरथ वरत सभ संजमा पाइआ साधू धूरि । "[3]

सांसारिक विषयों से विमुख होकर प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त करने वाले जीव का भी उन्होंने अनेक छंदों में वर्णन किया है । यथा —

" सुंदर सुआमी राम मनसड विस्राम आसालगि जीवते जीउ ।
मनितनै गलतान सिमरत प्रभ नाम हरि अमृतु पीवते जीउ ।
अमृतु हरि पीवते सदा थिरु थीवते विचे वसु एका जानिआ ।
वड किरपाल गोपाल प्रभु मेरे साध संगति निधि मानिआ ।
सरब को सुख आनंद घन पिआरे हरि तनु मन अंतरि सीतले ।
इक तिलु नही विसरै प्रान आधारा जपि जपि नानक जीवते । "[4]

इस छंद में भक्त की उस आनन्दमयी अवस्था का वर्णन है जब वह अपने प्रभु से तदाकारता प्राप्त कर लेता है । अहर्निश अपने प्रभु के प्रेम में निमग्न रहना और उसी के नाम-रसी अमृत का पान करते रहना भक्त का परम उद्देश्य है, यही उसका परमानन्द है ।

(2) माझ राग — इस राग के नामकरण के विषय में कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि मध्य पंजाब का राग होने के कारण ही इसे यह संज्ञा प्राप्त हुई ।[5] गुरू अर्जुनदेव ने इस राग में 43 पद, 5 अष्टपदियाँ, बारहमासा

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-8, पृष्ठ 44

2 वही, महला 5, पद 4-8, पृष्ठ 44

3 वही, महला 5, पद 4-16, पृष्ठ 48

4 वही, महला 5, पद 5-1, पृष्ठ 80

5 ~~वही, महला 5, पद — एक परिचय, पृष्ठ 57~~
श्री गुरुग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ 57

तथा विनरैनि की रचना की है। उत्साह और प्रेरणा इस राग के उद्बोधक भाव हैं। प्रभु के विरह में रात-दिन तड़पते रहना भक्त का सर्वाधिक उत्साह भाव है। गुरु अर्जुनदेव ने इस राग के अन्तर्गत इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है —

" मेरा मनु लोचै गुर दरसन ताई बिलप करे चात्रिक की निआई ।
तृखा न उतरै सांति न आवै बिनु दरसन संत पिआरे जिउ ।"[1]

यही नहीं, भक्त का मन सर्वत्र अपने प्रभु को खोजता है। वह भिन्न-भिन्न स्थानों पर भटकता है और अपने प्रभु से मिलने की निरन्तर साध बनाए रहता है —

" खोजत खोजत दरसन चाहे । भ्रमि-भ्रमि बन बन अवगाहे ।
निरगुन सरगुन हरि हरि मेरा सोई है जिउ आनि मिलावै मीउ ।"[2]

यही उत्साह-मय आत्मा की प्रेरणा-शक्ति है जिससे वह अपने परमब्रह्म के विविध रूपों से परिचय पा लेती है।

" पारब्रह्म अपरंपर देवा । अगम अगोचर अलख अभेवा ।"[3]
" दीन दयाल गोपाल गोविन्दा हरि धिआवहु गुरमुखि गाती जीउ ।"[4]

इस परिचय के बाद आत्मा परमात्मा से उसी प्रकार का अटूट सम्बन्ध स्थापित कर लेती है जैसा सागर से मछली का और स्वाति नक्षत्र की बूंद से चातक का होता है।[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 96
2 वही, महला 5, पद 4-5, पृष्ठ 98
3 वही, महला 5, पद 4-6, पृष्ठ 98
4 वही, महला 5, पद 4-14, पृष्ठ 100
5 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 175

(3) गउड़ी राग — यह राग गम्भीरता का माना जाता है, इसलिए आत्म-चिंतन इसका प्रमुखउद्बोधक भाव है । ज्ञान और भक्ति दोनों का अटूट सम्बन्ध संत-कवियों की भक्ति-भावना में रहा है । इसीलिए संत-कवियों ने इस राग का सर्वाधिक प्रयोग किया है, क्योंकि यह ज्ञान-सम्मत उक्तियों की अभिव्यक्ति में विशेष सहायक रहा है । गुरु अर्जुनदेव ने भी अन्य रागों की अपेक्षा इस राग का ही सबसे अधिक प्रयोग किया है । इस राग में इन्होंने 172 पद, 15 अष्टपदियाँ, बावनअखरी, सुखमनी, थिंती, 4 छंत, 42 श्लोक और 21 पउड़ियों की रचना की है ।

गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति में विशेष रूप से प्रयुक्त होने के कारण गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में विशेषतः दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति की है । आत्मा का परम पुरुषार्थ माना गया है परमात्मा की गवेषणा, उसके लिए आकुलता और सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति । माया-ग्रस्त आत्मा इसी गवेषणा की ओर तो उन्मुख हो रही है जिसका वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इन पंक्तियों में किया है —

" किन बिध कुसल होत मेरे भाई किउ पाई है हरि राम सहाई ।
कुसतु न गृहि मेरी सम माइआ । ऊभे मंदर सुंदर छाइआ ।
झूठे लालचि जनमु गवाइआ ।
हसती घोड़े देखि बिगासा । लसकर जोड़े नेव अवासा ।
गति मेवड़ी हउमै के फासा ।
राजु कमावै दह दिस सारी । भोगे रंग भोग बहु नारी ।
जिउ नरपति सुपनै भेखारी ।
एक कुसल मोकउ सतिगुर बताइआ ।
हरि जो किछु करै सुहरि किआ भगत भाइआ ।"[1]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 1, पृष्ठ 175

दर्शनशास्त्र का प्रमुख विषय चौरासी लाख योनियों का वर्णन रहा है, जिसके माध्यम से कर्मवाद की इस मान्यता की प्रतिष्ठा की गई है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र होते हुए भी उनका फल भोगने में परतंत्र है । कर्मफलों के साथ ही उसे अनेक योनियों के सुख-दुख भोगने पड़ते हैं । इन योनि-बन्धनों से जीव को मुक्ति तभी मिलती है जब वह प्रभु की शरण में चला जाता है और प्रभु की कृपा पाने का अधिकारी बन जाता है । गुरु अर्जुनदेव ने इस दार्शनिक सिद्धान्त का अत्यन्त सरस, प्रभाव पूर्ण एवं सरल शैली में इस प्रकार वर्णन किया है —

" कई जनम भए कीट पतंगा, कई जनम गज मीन कुरंगा ।
कई जनम पंखी सरप होइओ । कई जनम हैवर बृख जोइओ ।
मिलु जगदीस मिलन की बरीआ । चिरकाल इह देह संजरीआ ।"[1]

इसके अतिरिक्त, गुरु की महिमा, प्रभु की महिमा, हरि कथा का महत्व, जीवन-जगत् की नश्वरता, माया-ग्रस्त जीव की दशा आदि विषयों का वर्णन भी उन्होंने इस राग के अन्तर्गत किया है ।

(4) राग आसा - जैसा कि इसके नामकरण से स्पष्ट है, यह राग आशा से सम्बन्धित प्रसन्नता, मिलन आदि भावों की अभिव्यक्ति करता है, इसीलिए प्रसन्नता, आशा और मिलन इसके उद्बोधक भाव माने गए हैं । इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने 163 पद, 2 अष्टपदियाँ, चिरहड़े और 14 छंतों की रचना की है । इन छंतों में अधिकांशतः भवमुक्तिजन्य आनन्द की अभिव्यक्ति की गई है । यथा —

" जिन लाई प्रीति सोई चिरु आछा ।
जिनि सुखि बैठाली तिसु भउ बहुतु बिआपा ।
आई मीत कुटुंब देखि बिबादे । इक आई बसगति गुर परसादे ।"[2]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-3, पृष्ठ 176
2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 370

इन पंक्तियों में आत्मा के उस मुक्तिजन्य आनन्द का वर्णन है जो सांसारिक विषयों से विमुख होकर, बंध-बन्धनों से मुक्त होकर अनुभव करती है ।

मिलन – आत्मा के आनन्द से विभोर होकर आत्मा परमात्मा से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और उसी आनन्द की अनुभूति करती है जो एक दुल्हे अपने पति का सम्पूर्ण प्रेम पाकर करती है । इसी आनन्द की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है —

" सुहाग हमारो हम दुलि सेजिओ ।
कंतु मिलिओ मेरो मनु सुखु जोड़िओ ।
आंगनि मेरे सोभा बंद ।
निसि बासुर प्रिअ संगि आनन्द ।
वसत्र हमारे रंगि वसुल ।
सगल आभरण सोभा कंठ फूल ।
प्रिअ पेखी दृष्टि पाइ सगल निधान ।
कुबद बुत की चूकी कानि । " [1]

मिलन — सुख से सम्बन्धित अन्य विषयों का, जैसे हरिसेवा का महत्व, तादात्म्य स्थिति की दशा आदि का भी वर्णन उन्होंने इस राग के अन्तर्गत किया है ।

(5) राग गुजरी – यह राग गुर्जरी (ग्वालों) का गेय राग माना जाता है जो आशा, स्फूर्ति एवं चित्त-संचार करने वाला होता है । आशा, चिंतन और उत्साह इसके उद्बोधक भाव माने जाते हैं । इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने 32 पद, 2 अष्टपदियाँ और वार की रचना की है । जब जीव को परमात्मा के प्रति आस्था हो जाती है तो उसे उससे केवल मिलने की ही

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4–7, पृष्ठ 372

आशा नहीं रहती, वरन् वह उसको अपार शक्ति पर विश्वास करके पूर्णतः उसी पर आश्रित भी हो जाता है। आत्मा की यह स्थिति सम्पूर्ण समर्पण की स्थिति है। गुरु अर्जुनदेव ने आत्मा की इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है —

" काहे रे मन चितवहि उदमु जा आहरि हरि जीउ परिआ।
सैल पथर महि जंत उपाए ता का रिजकु आगै करि धरिआ।"[1]

परमात्मा के प्रति आत्मा से उसकी शक्ति में विश्वास उत्पन्न होता है। आशान्विता आत्मा परमात्मा को अपार कृपालु और सब प्रकार के दुखों का निवारण करने वाला मानकर आनन्द की प्राप्ति करती है। वह सोचती है कि जिसने भी भगवान का स्मरण किया, वह संसार के बंधनों से छूट गया और उसके दुखों के सभी कारण काम, क्रोध आदि नष्ट हो गए —

" नाम निधान जिनि जिनि जपिओ तिनके बंधन काटे।
काम क्रोध माइआ बिखु ममता इह बिआधि ते हाटे।"[2]

इन विषयों के अतिरिक्त इस राग के अन्तर्गत सांसारिक वैभव की नश्वरता, नाम-स्मरण की महिमा, गुरु-महिमा तथा भगवत्-कृपा का अपार प्रभाव आदि भी वर्णित है।

(6) राग देवगंधारी — इस राग में अधिकांशतः प्रसन्न भावों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए प्रसन्नता इसका उद्बोधक भाव माना गया है। गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 38 पदों की रचना की है जिनमें प्रभु की व्यापकता, भाग्यवाद की प्रतिष्ठा, आत्म-समर्पण, गुरु-महिमा आदि विषयों का वर्णन किया गया है। भगवान् की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है कि वही प्रभु हृदय में में भी है, हृदय से बाहर भी है, सभी में

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 495

2 वही, महला 5, पद 4-5-6, पृष्ठ 496

समाया हुआ है । घट और अवघट सर्वत्र वही रमा हुआ है । उस प्रभु की माया अनंत है, ऋषि-मुनि भी उसका पार नहीं पाते । किन्तु वह अपने भक्तों को सुख देने वाला और उनके दुखों का नाश करने वाला है —

" अंतरि एको बाहरि एको सभमहि एकु समाइ है ।
घटि अवघटि रविआ सभठाई हरि पूरन ब्रह्म दिखाई है ।
उसतति करहि सेवक मुनि केते तेरा अंतु कतहु पाईऐ ।
सुख दाते दुख भंजन स्वामी जन नानक सद बलि जाइ है ।"[1]

(7) राग बिहागड़ा — वियोग इस राग का प्रमुख उद्बोधक भाव है । लोक में भी यह राग विरहजन्य अनुभूतियों के लिए अपनाया जाता है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में । पद, 9 छंत और 2 श्लोकों की रचना की है, जिनमें मुग्धा आत्मा की अपने प्रियतम परमात्मा के विरह में व्यथापूर्ण दशा का वर्णन है । आत्मा की विरह-दशा का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इस प्रकार किया है —

" वधु सुहु रैनड़ीए पिअ प्रभु लेगा ।
घटु दुख नीदड़ीए परसउ सद जगा ।
जग धुरि बांछउ सदा जावउ नाम रसि वैरागनी ।
प्रिअ रंगि राती सहज माती महा दुरमति तिआगनी ।
गहि भुजा लीनी प्रेम भीनी मिलनु प्रीतम सच मगा ।
बिनवंती नानक धारि किरपा रहउ चरणह संगिलगा ।"[2]

(8) राग वडहंसु — वैराग्य और मिलन की चाह इस राग के उद्बोधक भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 9 पद और 3 छंतों की रचना की है । वैराग्य भाव में सांसारिक पदार्थों की प्रति उदासीनता के

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-1, पृष्ठ 528

2 वही, महला 5, पद 4-1-4, पृष्ठ 544

अतिरिक्त और भी अनेक भावों का स्थान होता है । जैसे, प्रभु के महत्व को समझना और प्रभु-प्राप्ति के साधनों का बोध होना । गुरु अर्जुनदेव ने भगवान् के महत्व का वर्णन करते हुए बताया है कि उसका दरबार अत्यन्त ऊँचा है, जिसका अंत नहीं है । करोड़ों मनुष्य उस तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कोई भी नहीं पहुँच पाता । लाखों भक्त उसके आराधक हैं, लाखों तपीश्वर जिसको प्राप्त करने के लिए तप करते हैं, लाखों योगेश्वर जिसके लिए योग-साधना करते हैं, लाखों भोगेश्वर जिसके लिए भोग करते हैं —

" अति ऊचा ताका दरबार ।
अंतु नहीं किछु पारावार ।
कोटि-कोटि कोटि लख धावै ।
इकु तिलु ताका महलु न पावै ।
सुहावी कउणु सु वेला जितु प्रभ मेला ।
लाख भगत जाकउ आराधहि ।
लाख तपीसर तपु ही साधहि ।
लाख जोगीसर करते जोगा ।
लाख भोगीसर भोगहि भोगा ।"[1]

प्रभु-प्राप्ति का साधन बताते हुए इन्होंने कहा है कि नाम-स्मरण ही सर्वोत्तम साधन है और नाम की प्राप्ति गुरु द्वारा होती है —

" साध संगि हरि अमृतु पीवै । ना ओउ मरै न कबहु छीजै ।
वडभागी गुरु पूरा पाईऐ । गुर किरपा ते प्रभु धिआईऐ ।
रतन जवाहर हरि मानका लाला । सिमरि सिमरि प्रभु भए निहाला ।"[2]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 562

2 वही, महला 5, पद 4-6, पृष्ठ 563

आत्मा को परमात्मा से मिलने की अमित चाह होती है, क्योंकि अंततोगत्वा, यही तो उसका परम तथ्य होता है। निम्नलिखित छंद में गुरू अर्जुनदेव ने आत्मा की इसी चाह का वर्णन अत्यन्त मार्मिक शब्दों में किया है —

" मेरे अंतरि लोचा मिलण की पिआरे तउ किउ पाई गुर पूरे
जे सउ खेल खिलाई के बालकु रहि न सके बिनु वीरे ।
मेरे अंतरि भुख न उतरै अमाली जे सउ भोजन मैं नीरे ।
मेरे मनि तनि, प्रेम पिरम का बिनु दरसनु किउ मनु धीरे ।"[1]

(9) राग सोरठि — बड़हंसु राग की तरह से इस राग के भी वैराग्य और मिलन की तीव्र चाह ही प्रमुख भाव है। गुरू अर्जुनदेव ने इस राग में 94 पद तथा 3 अष्टपदियों की रचना की है। वैराग्य-भावना का मूल कारण है सांसारिक ममता के प्रति उदासीनता का भाव। इस भाव के उदित हो जाने पर मनुष्य को पुत्र, कलत्र आदि के सभी बन्धन निःसार प्रतीत होने लगते हैं। जीवन की क्षणभंगुरता का उसे ज्ञान हो जाता है। गुरू अर्जुनदेव ने निम्नलिखित छंद में वैराग्य-विषयक इन्हीं भावों को व्यक्त किया है —

" पुत्र कलत्र लोक गृह वनिता माइआ सभ बंधे डी ।
अंतकी वार को छरा न होसी सभ मिथिआ असनेही ।
रे नर काहे दपोरहु देही ।
उठि जागहो सुभ वाचरो इकु आखु राम सनेही ।"[2]

वैराग्य-भाव के कारण ही आत्मा परमात्मा की ओर उन्मुख होकर उससे विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करती है, अपनी सीमा स्वीकार करके परमात्मा की असीमता का वर्णन करती है, अपने दोष और परमात्मा के गुणों का स्मरण

---

1 श्री गुरू ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 5-1-9, पृष्ठ 564

2 वही, महला 5, पद 4-4, पृष्ठ 609

करती है । आत्मा के कालुष्य को मिटाने वाला भगवान् है । यदि आत्मा गुणहीन है तो परमात्मा दाता है, यदि आत्मा में अज्ञानान्धकार है तो परमात्मा चतुर एवं सर्व कलाओं का ज्ञाता है । आत्मा पापी है तो परमात्मा पापों को नष्ट करने वाला है —

" हम मैले तुम अमल करते हम निरगुन तू दाता ।
हम मूरख तुम चतुर सिआने तू सरब कला का गिआता ।" [1]

इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने अधिकांशतः परमात्मा के विविध गुणों का, विविध रूपों का एवं विविध शक्तियों का वर्णन किया है । कुछ छंदों में परमात्मा से मिलने की जो इच्छा व्यक्त की है । यथा —

" हमरी गनत न गनीआ कोई अपणा बिरदु पछाणि ।
हाथ देइ राखे करि अपनु सदा सदा रंगु माणि ।" [2]

इन पंक्तियों में परमात्मा के प्रति आत्मा की वैसी ही आत्मीयता निहित है जैसी राम और कृष्ण भक्तों में पाई जाती है ।

(10) राग धनासरी — पीड़ा तथा दुःखमय दृष्टिकोण इस राग के उद्बोधक भाव माने गये हैं । इस आधार पर इस राग का परिचय देते हुए डाक्टर धर्मपाल मैनी ने लिखा है कि "हेमन्त में दुपहर के बाद गेय वैराग्य गीत होते हुए भी प्रार्थना का स्वर होने के कारण अपना विशेष महत्व रखता है । यही वैराग्य का कारण असंतोष है और वह भी किसी एक से नहीं, योगी, काजी तथा ब्राह्मणों से और उन सबसे अधिक अपने से ।" [3]

गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 58 पद, एक अष्टपदी तथा एक छंत की रचना की है । इन छंदों में इनका असंतोष कहीं भी परिलक्षित नहीं होता

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-6-17, पृष्ठ 613
2 वही, महला 5, पद 2-16-44, पृष्ठ 619
3 श्री गुरुग्रन्थसाहिब — एक परिचय, पृष्ठ 65

वरन् अपने आराध्य के प्रति गहन आस्था ही व्यक्त होती है । इसीलिए इन छन्दों में भगवान् की भक्ति और आत्मनिवेदन का स्वर ही प्रमुख है जिसमें भगवान् के प्रति आस्था और विश्वास है । यथा —

" भव खंडन दुख भंजन स्वामी अगति बछल निरंकारे ।
कोटि पराध मिटे खिन भीतरि जां गुरमुखि नामु समारे ।
मेरा मनु लागा है खिन भीतरि जां गुरमुखि नाम समारे ।
मेरा मन लगा है राम पिआरे ।
दीन दइआलि करी प्रभ किरपा बसि कीने पंच दुतारे । "[1]

इन पंक्तियों में अपने आराध्य के प्रति भक्त-मन की गहन विश्वास-भावना एवं आस्था स्पष्ट है । और —

" हा हा प्रभु राखि लेहु ।
हम ते किछु न होइ मेरे स्वामी करि किरपा अपुना नामु देहु ।
अगनि कुटंब सागर संसार । भरम मोहि अगिआन अंधार ।
ऊंच नीच दुख सुख । आपसी नाही तुसना भुख ।
मनि बासना रचि बिखै बिआधी । पंचदूत संगि मड़ा असाध ।
जीअ जहान प्रान धनु तेरा । नानक जानु सदा हरि नेरा । "[2]

इन पंक्तियों में आत्म-निवेदन के द्वारा भक्त ने अपनी हीनता का वर्णन किया है । यह हीनता भक्त का अवगुण नहीं, वरन् उसका गुण माना जाता है । कहने का भाव यह है कि इस राग में रचित पदों में अविश्वास का स्वर नहीं मिलता ।

(11) राग जैतसरी — यह राग शरद् रात्रि के प्रथम प्रहर में गाए जाने के कारण प्रसन्नता का द्योतक है, इसीलिये प्रसन्नता या हर्ष की इसकी

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 670

2 वही, महला 5, पद 4-1-19, पृष्ठ 675

उद्‌बोधक भाव माना गया है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 13 पद, एक अष्टपदी, 3 छंत, 40 श्लोक तथा 20 पउड़ियों की रचना की है जिनमें आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से प्राप्त सुख, परमात्मा का अगम्य रूप आदि वर्णित है । जब आत्मा सांसारिक विषय-भोगों से विमुख होकर भगवदोन्मुख हो जाती है तो उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है । वह चिंता, अहं भावना आदि को छोड़कर सर्वत्र उसी की सत्ता को व्याप्त देखती है । गुरु अर्जुनदेव ने आत्मा की इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है —

" अब मैं सुख पाइओ गुर आइ ।
तजि सिआनप चिंत बिसारी अहं छोड़िओ है तिआइ ।
जिउ देखउ तउ सगल मोहि मोही अउ तउ सरनि पाइओ गुर-आगि ।"[1]

परमात्मा के अगम्य रूप का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि उसकी महिमा अवर्णनीय है —

" ऊंचा अगम अपार प्रभु कथनु न जाइ अकथु ।
नानक प्रभु सरणागती राखन कउ समरथु ।"[2]

(12) राग टोडी — इस राग का उद्‌बोधक भाव वियोग है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 30 पद लिखे हैं जिनमें मनुष्य को माया के इस भाव से बचने के लिए साधु-संगति में जाने का उपदेश दिया है —

" माई माइआ छलु
तृण की अगनि मेघ की छाइआ गोबिंद भजन बिनु इहै का जतु ।
छोड़ि सिआनप बहु चतुराई दुख हर जोड़ि साध मगि चलु ।
सिमरि सुआमी अंतरजामी मानव देह का इहु उतम फलु ।
बेद बखिआन करत साधु जन आगहीन समझत नहीं बलु ।
हैम जगति राचे जन नानक हरि सिमरत बहन गए मलु ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-1-5, पृष्ठ 701
2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 704
3 वही, महला 5, पद 2-7-26, पृष्ठ 717

प्रभु नाम से विमुख जीवों का चित्रण इस प्रकार किया गया है —

" बिनु सिमरन जो जीवनु बलना सरप भेसे अरजारी ।"[1]

(13) बैराड़ी – गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में केवल एक ही पद की रचना की है जिसमें संत-संगति में रह कर प्रभु का यशोगान करने की महिमा का वर्णन किया गया है —

" संत जना मिलि हरि जसु गाइयो । कोटि जनम के दुख गवाइओ ।
जो चाहत सोई मनु पाइओ । करि किरपा हरि नाम दिवाइयो ।
सरब सुख हरि नामि वडाई । गुरु प्रसादि नानक मति पाई ।"[2]

अर्थात संत-संगति में रह कर प्रभु का गुणगान करने से करोड़ों जन्मों के दुख दूर हो जाते हैं और मनोवांछित फल मिलता है । संत-कृपा से ही प्रभु के नाम की प्राप्ति होती है और प्रभु का नाम स्मरण करने से सभी सुख उपलब्ध हो जाते हैं ।

(14) राग तिलंग – इस राग का उद्दीपक भाव वैराग्य है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में केवल 5 पदों की ही रचना की है । यह राग मुस्लिम-श्रोत माना जाता है । कदाचित् इसीलिए गुरु अर्जुनदेव ने इसमें फारसी के शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है । उन्होंने इस राग में रचित पदों में विरहिणी आत्मा की दशा का वर्णन किया है —

" मीरा दाना बिल सर्वे सोच
मुहबते मनि तनि वसे सचु साह बंदी मोच ।
दीवने दीदार साहिब कहु नही इसका मोलु ।
पाक परवदगार तू खुदि खसमु वडा अतोलु ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-2, पृष्ठ 71।

2 वही, महला 5, पद 2-1, पृष्ठ 720

दस्तगीर देह दिलावर तूही तूही एक ।
करतार कुदरति करण बालक नानक तेरी टेक । "[1]

(15) राग सूही - आनन्द और इन्द्रियानुभूति इस राग के उद्बोधक भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 58 पद, 5 अष्टपदी तथा 11 छंतों की रचना की है । इन छंतों में इन्होंने परमात्मा के विविध रूपों का, उसकी कृपा तथा उसकी माया आदि का वर्णन किया है । परमात्मा के विविध रूपों का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है —

" बाजीगर जैसे बाजी पाई । नानारूप भेख दिखलाई ।
सांगु उतारि धरिओ पसारा । तब एको एकंकारा ।
कवन रूप दिसटिओ बिनसाइओ । कतहि गइओ उहु कत ते आइयो ।
जलते उठहि अनिक तरंगा । कनिक भूखन कीने बहुरंगा ।
बीजु बीजि देखिओ बहु परकारा । फल पाके ते एकंकारा ।
सह घटा महि एकु आकासु । घट फूटे ते ओही प्रगासु ।
भरम लोभ मोह माइआ बिकार । भ्रम छूटे ते एकंकार । "[2]

भगवान की कृपा में भक्त को सदैव विश्वास रहा है, इसीलिए भक्त यह सोचकर कि उसके गुणों का गान करने से अपार आनन्द और विनोद की प्राप्ति होगी, जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाएंगे, उसकी कृपा के प्रति आश्वावान होकर आनन्द विभोर हो उठता है —

" गुण गोपाल प्रभ के नित गाहा । अनद बिनोद मंगल सुख लाहा ।
चलु सखीए प्रभु रावण जाहा । साध जना की चरणी पाहा ।
करि बेनती जन धूरि बाछाहा । जन्म जनम के किलबिख लाहा । "[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-5, पृष्ठ 724
2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 736
3 वही, महला 5, पद 4- 20-26, पृष्ठ 742

परमात्मा ही कर्ता है, वही कर्म है और वही कर्मफल है । इस प्रकार विविध रूपों में परमात्मा ही अपनी माया का चमत्कार दिखाता है । मनुष्य तो उसका केवल साधन है —

" जब कछु न सीऊ तब किआ करता करन करम करि आइआ ।
अपना खेलु आपि करि देखे ठाकुरि रचनु रचाइआ ।
मेरे राम राई मुझते कछु न होई ।
आपे करता आपि कराए सरब निरंतरि सोई ।"[1]

इस प्रकार इस राग के अन्तर्गत गुरु अर्जुनदेव ने उन भावों की अभिव्यक्ति की है जो आत्मा को सन्तोष प्रदान करके आनंदोन्मुख करते हैं ।

(16) राग बिलावलु – यह राग शान्ति और आशा का द्योतक माना गया है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 129 पद, 2 अष्टपदियाँ और 5 छंतों की रचना की है । इन छंतों में इन्होंने भगवत्-गुणों का, उसकी सर्व-व्यापकता का, उसकी दयालुता एवं शक्तिमत्ता आदि का वर्णन किया है । यथा —

" एक रूप सगलो पासारा । आपे बनजु आपि विउहारा ।
ऐसा गिआनु विरलोई पाए । जत जत पेखि तत दूसटाए ।
अनिक रंग निरगुन इक रंगा । आपे जलु आप ही तरंगा ।
आपि ही मंदरु आपहि सेवा । आप ही पुजारी आप ही देवा ।
आपहि जोग आप ही जुगता । नानक के प्रभ सद ही मुकता ।"[2]

इन पंक्तियों में परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन अत्यन्त भावशाली रीति से किया गया है ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4–6, पृष्ठ 748

2 वही, महला 5, पद 4–1–6, पृष्ठ 803

(17) राग गौड़ - इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने 22 पद और एक अष्टपदी की रचना की है । इस राग का उद्बोधक भाव संयोगजन्य प्रसन्नता माना गया है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में आत्मा और परमात्मा की स्थिति, सद्गुरु की महिमा, परमात्मा की शक्तिमत्ता आदि का वर्णन किया है । यथा —

"
सभु करता सभ जुगता ।
सुनतो करता पेखत करता ।
अदृसरो करता दूसटो करता ।
ओपति करता परलउ करता ।
आवतु करता जातु भी करता ।
निरगुन करता सरगुन करता ।
गुर प्रसादि नानक समदृसटो । "[1]

इन पंक्तियों में परमात्मा की शक्ति का वर्णन है और निम्नलिखित पंक्तियों में गुरु की महिमा का वर्णन है —

" गुरु गुरु गुरु करि मनि मीत ।
गुर बिना मै नाही होर ।
गुरु की टेक रहहु दिन राति ।
जाकी कोई न मेटे घाति ।
गुरु परमेसरु एको जाणु ।
जोतिसु भावै सो परवाणु ।
गुरु चरणी जाका मन लागै ।
हरु हरु प्रभु ताका भागै ।
गुर कीसेवा पाए मानु ।
गुर ऊपरि सदा कुरबानु ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-1, पृष्ठ 862

गुरु का दरसन देखि निहाल ।
गुर के सेवक की पूरन घाल ।
गुरु के सेवक कउ दुखु न बिआपै ।
गुरु का सेवक दह दिसि जापै ।
गुरु की महिमा बरनु न जाइ ।
पारब्रह्म गुरु रहिआ समाइ ।
कहु नानक जाके पूरे भाग ।
गुरु चरणी ताका मनु लाग ।"[1]

(18) राग राकली - इस राग में संसार के प्रति वैराग्य तथा आध्यात्मिक संयोग की आशा की प्रधानता होती है, इसलिए यह योगियों का प्रिय राग रहा है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 60 पद, 8 अष्टपदियाँ, 4 छंत, सवैये, 44 श्लोक और 22 पउड़ियों की रचना की है । वैराग्य भावना के उत्पन्न होने पर मनुष्य का मन सांसारिक विषयों से विमुख होकर परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है, इसीलिए उसमें सुख दुख का भाव नहीं रहता । वह सदैव आनन्द से परिपूर्ण रहता है ।—

" आवत दरख न जावत दुखा नह बिआपै मन रोगानी ।
सदा आनन्द गुरुपूरा पाइआ तउ उतरी सगल बिओगनी ।"[2]

समत्व भाव को प्राप्त करके इस मन में केवल ब्रह्म की आसक्ति ही शेष रह जाती है और सारी क्रियायें इसी आसक्ति पर केन्द्रित हो जाती हैं —

" ओं अंकारि एक पुनि एकै एकै रागु अलापै ।
एक वेसो एकु विआपै एको रहिआ बिआपै ।
एका सुरति एका ही सेवा एको गुरते जापै ।"[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-6-8, पृष्ठ 864
2 वही, महला 5, पद 4-3, पृष्ठ 883
3 वही, महला 5, पद 4-8, पृष्ठ 885

वैराग्य भाव से पूर्ण मन में ब्रह्म-मिलन की आशा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है । मन ब्रह्म के अनेक रूपों की कल्पना करता है और उनसे तादात्म्य करके आशान्वित होता है । परमात्मा की दयालुता एवं शक्तिमत्ता में उसे विश्वास उत्पन्न हो जाता है और वह स्वयं को सारे दुःखों से मुक्त और सुखों से युक्त समझ कर अपार आनन्द का अनुभव करता है —

" राजा राम की सरणाइ ।
निरभउ भए गोविन्द गुण गावत साध संगि दुखु जाइ ।
जाके रामु बसै मन माही । सो जनु दुतरु पेखत नाही ।
सगले काज संवारे अपने । हरि हरि नामु रसन नित जपने ।"[1]

इस प्रकार अन्य छंदों में भी गुरु अर्जुनदेव ने वैराग्य और आशा के उद्बोधक भावों का वर्णन किया है ।

(19) राग नटनारायण — प्रसन्नता इस राग का उद्बोधक भाव है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 10 पदों की रचना की है जिनमें प्रभु के विविध गुणों का वर्णन है । प्रभु के गुणों का वर्णन करने से भक्त के मन को अपार प्रसन्नता होती है इसीलिए वह नित्य भगवान् के गुणों का ही श्रवण चाहता है । यथा —

" कोउ है मेरो साजनु मीतु । हरि नामु सुनावै नीत ।
बिनसै दुखु विपरीति । समु अरपउ मनु तनु चीतु । "[2]

(20) राग माली गउड़ा — प्रसन्नता और उमंग इस राग के उद्बोधक भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 8 पदों की रचना की है । इन पदों में इन्होंने भगवान के विविध गुणों को बताकर अपने मन को भगवदोन्मुख करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि केवल ब्रह्म ही सुख-सार है, अन्य तत्व निस्सार और मिथ्या है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-42-53, पृष्ठ 899
2 वही, महला 5, पद 2-1-10, पृष्ठ 980

" रे मन टहल हरि सुख सार
अवर टहला झूठीआ नित करै जमु सिरि मार । "[1]

(21) राग मारू - यद्यपि वीर रस राग का उद्बोधक भाव है तथापि गुरुओं ने इस राग के अन्तर्गत नम्रता एवं उदारता के भावों को विशेष महत्व दिया है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 32 पद, 6 अष्टपदियाँ, अंजुलियाँ, सोहले, 69 श्लोक, 23 पउड़ियों की रचना की है । इन्होंने इन छन्दों में भगवान की भक्ति का और जीव के कर्मफलों का विशेष रूप से वर्णन किया है । यथा —

" पाँच बरख को अनाथु धू बारिकु हरि सिमरत अमर अढारे ।
पुत्र होति नाराइण कहिओ जम कंकरि मारि बिदारे ।
मेरे ठाकुर केते अगनत तारे । "[2]

इन पंक्तियों में भगवान् की दयालुता का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वे शीघ्र ही अपने भक्त पर कृपालु हो जाते हैं । और इन पंक्तियों में कर्मफल का वर्णन किया गया है —

" सत चउरासी भ्रमते भ्रमते दुलभ जनमु अब पाइओ ।
रे मूढ़े तू होछे रसि लपटाइओ । "[3]

(22) राग तुखारी - यह राग शांति एवं प्रसन्नता का उद्बोधक है । गुरु अर्जुनदेव ने इसमें केवल एक ही छंत की रचना की है जिसमें इन्होंने नाम-महिमा का वर्णन किया है । भक्त के लिए भगवान् का नाम ही शान्ति एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाला होता है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-3-8, पृष्ठ 988
2 वही, महला 5, पद 4-2, पृष्ठ 999
3 वही, महला 5, पद 8-1, पृष्ठ 1017

" अमृत नामु सुनीजै तेरा किरपा करहित पीवा ।
आस पिआसी पिर के ताई जिउ चातक बुंदा ।" [1]

(23) राग केदारा – प्रसन्नता और वियोग इस राग के उद्बोधक भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 15 पद तथा । छंद की रचना की है, जिनमें प्रभु-मिलन की इच्छा तथा आत्मा का विरह वर्णित है । जीव ने मन में प्रभु-दर्शनों की तीव्र इच्छा का वर्णन इन पंक्तियों में है । यथा —

" हरि के दरसन को मनि चाउ ।
करि किरपा सत संगि मिलावहु तुम देवहु अपनों नाउ ।" [2]

प्रभु के प्रेम में जीव इतना व्याकुल हो जाता है कि वह एक क्षण के लिए भी हरि को नहीं भूल पाता —

" बिसरत नाहीं मन ते हरी ।
अब इह प्रीति महा प्रबल भई आन बिखै झरी ।
जुंद कहा तिआगि चातक मीन रहत न धरी ।" [3]

इन्होंने हरि-विमुख लोगों के जीवन को नरक-समान बताते हुए कहा है —

" हरि बिनु जो रहना नरक सो सहना ।
चरण कमल मन पेखिआ ।" [4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4–1, पृष्ठ 1117
2 वही, महला 5, पद 2–2–4, पृष्ठ 1119
3 वही, महला 5, पद 2–1–9, पृष्ठ 1121
4 वही, महला 5, पद 4–1, पृष्ठ 1122

(24) राग भैरउ - इस राग के उद्बोधक भाव दुःखमय दृष्टि-कोण है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 57 पद और 3 अष्टपदियों की रचना की है । जिनमें परमात्मा की महत्ता का वर्णन, नाम का महत्व और आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध वर्णित है । इस संसार में सभी मनुष्य रोग-ग्रस्त हैं, कोई अहं के वशीभूत है, कोई कामाधीन है, कोई दृष्टि-रोगी है और कोई नाद-रोगी है । केवल परमब्रह्म ही इन सब से मुक्त है । यथा —

" इउमें रोग मानुख कउ दीना ।
काम रोगि मैगलु बसिलीना ।
दृसटि रोगि पंखि मुए पतंगा ।
नाद रोगि खपि गए कुरंगा ।
जो जो दीसै सो सो रोगी ।
रोग रहित मेरा सति गुरु जोगी ।"[1]

परमात्मा के नाम का महत्व सभी भक्त-कवियों ने स्वीकार किया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी लिखा है कि परमात्मा के नाम-स्मरण से उसका ज्ञान हो जाता है, शरीर कालुष्य ही हो जाता है, समस्त मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, और तीर्थों का पुण्य प्राप्त हो जाता है —

" नामु लैत मनु परगटु भइआ ।
नामु लैत पापु तन ते गइआ ।
नामु लैत सगल पुरवाइआ ।
नामु लैत अठसटि मजनाइआ ।"[2]

(25) राग बसंतु - आनन्द और सन्तुलन इस राग के उद्बोधक भाव माने जाते हैं । इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने 21 पद, 2 अष्टपदियाँ

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-17-20, पृष्ठ 1140

2 वही, महला 5, पद 4-12-25, पृष्ठ 1142

और इस बार की रचना की है । वर्णित भक्त-कवियों के लिए आध्यात्मिक ऋतु का पर्याय है, अर्थात् वसंत मन की उस स्थिति का द्योतक है जब वह परमात्मा से तादात्म्य करके और अपार आनन्द को प्राप्त करके आनन्दमयी क्रीड़ा करता है । गुरु अर्जुनदेव ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है —

" गुरु सेवउ करि नमसकार ।
आजु हमारे मंगलाचार ।
आजु हमारे महा आनंदु ।
चिंत लथी मेटे गोविंद ।
आज हमारे गृहि वसंत ।
गुन गाए प्रभ तुम्ह बेअंत ।
आजु हमारे बने फाग ।
प्रभ संगी मिलि खेलन लाग ।
होली कीनी संत सेव ।
रंगु लागा अति लाल देव । "[1]

इसके अतिरिक्त इन्होंने इस राग के अन्तर्गत भगवान् की भक्त-वत्सलता, गुरु कृपा करके उसकी महत्व आदि भावों को व्यक्त किया है । भगवान् अपने भक्त पर कृपा करके उसकी वाणी को पवित्र, मन को निर्मल, और उसे मृत्यु-दुख से मुक्त बना देते है —

" जिहु बोलतु मुखु पवितु होइ ।
जिहु सिमरत निरमल है सोइ ।
जिस अराधे जमु किहु न कहै ।
जिस की सेवा सभु किहु लहै । "[2]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1180

2 वही, महला 5, पद 4-9, पृष्ठ 1182

(26) राग सारंग – यह राग वर्षाऋतु में मध्याह्न के समय गाए जाने के कारण पिपासा का प्रतीक है । पिपासा अर्थात् परमात्मा से मिलने की प्रबल इच्छा आनन्द, प्रसन्नता और वैराग्य को जन्म देती है, इसीलिए ये तीनों भाव इस राग के उद्बोधक भाव माने गए हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 139 पद, 2 अष्टपदियाँ, 1 छंत, 3 श्लोक और 1 पउड़ी की रचना की है । इन छंदों में इन्होंने भक्त-वत्सल प्रभु के लिए श्रद्धा और भक्ति, भगवान् की शरण का महत्व, साधु-महिमा, तथा भक्ति-महिमा आदि का वर्णन किया है । भगवान् की भक्तवत्सलता पर अटूट विश्वास व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है —

" अब मोहि राम भरोसउ पाए ।
जो जो सरनि परिओ करुनानिधि ते ते सगलि तराए ।
सुखि सोइओ अरु सहजि समाइओ सहसा गुरहि गवाए ।
जो चाहत सोई हरि कीओ मन वांछत फल पाए । "[1]

साधु-महिमा का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है कि गुरु-चरणों की सेवा से ही परमब्रह्म का ध्यान और सुगति मिलती है —

" बलिहारी गुरु देव चरन ।
जाके संगि पारब्रह्मु धिआईऐ उपदेसु हमारी गति करना ।
दुख रोग मै सगल बिनासे जो आवै हरिसंत सरन ।
आपि जपै अवरह नामु जपावै वड समरथ तारन तरन । "[2]

भगवान् की कृपा से यदि आनन्द और दुख से मुक्ति मिलती है तो सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य-भावना भी उत्पन्न होती है । वैराग्य-भावना को प्राप्त करके मन भगवान् की खोज में लग जाता है । ऐसे ही वैराग्य-भाव का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इन पंक्तियों में किया है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-8, पृष्ठ 1204
2 वही, महला 5, पद 4-13, पृष्ठ 1206

" मनि वैरागेगी । खोजती दरसार ।
साधु संतन सेवि के पिउ हिअरै खिआइओ ।
आनंद सखी पेखि के इउ महतु पावउगी ।
करम करी समति आगि के इउ सरनि परउगी ।
नानक सुआमी गुर मिले इउ गुर मनावउगी । "[1]

(27) राग मलार — यह राग वर्षाऋतु में अर्धरात्रि के समय गाया जाता है और तृषा, तृप्ति का प्रतीक होने के कारण आनन्द और प्रसन्नता के भावों का उद्बोधक है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 30 पद, 1 छंत, 2 श्लोक और एक पउड़ी की रचना की है जिनमें जीव की परमात्मा के प्रति आत्मन्यमयी आसक्ति और गुरु-महिमा आदि का वर्णन है । जीव की परमात्मा के प्रति आसक्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है —

"माई मोहि प्रीतमु देहु मिलाई ।
सगल सहेली सुख भरि सूती जिह घर लालु वसाई ।
मोहि अवगुन प्रभु सदा दइआला मोहि निरगुनि किआ चतुराई
करउ बराबरि जो प्रिअ संगि राती इह इउमै भी दीठाई ।
मई निमाणी सरनि इक ताकी गुर सुतिगुर पुरख सुखदाई ।
इक निमख मोहि मेरा मनु दुखु खटिआ नानक सुखि रैनि विहाई ।"[2]

गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि गुरु ही इस भवसागर से पार उतारने वाला जहाज है, गुरु कृपा से जन्म-मरण से मुक्ति मिलती है और गुरु की सेवा से कर्म-फल से छुटकारा मिलता है । इसीलिए गुरु ही जीवन, गुरु ही आधार और गुरु ही स्वामी है —

" गुरु बेड़िउ भवजल तारन हारु ।
गुरु मेटिए न कोई जोनि अउतारु ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-6-136, पृष्ठ 1230
2 वही, महला 5, पद 2-2-6, पृष्ठ 1267

गुरु की सेवा सो जनु पाए ।
जाकउ करमि लिखिआ धुरि आए ।
गुरु मेरी जीवनि गुरु आधारु ।
गुरु मेरी वरतणि गुरु परवारु ।
गुरु मेरा सखा सतिगुरु सरणाई ।
नानक गुरु पारब्रह्मु जाकी कीम न पाई । "[1]

(28) राग जैतसरी — यह राग प्रसन्नता का प्रतीक है, इसीलिए प्रसन्नता इसका उद्बोधक भाव माना गया है । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 50 पद और एक छंत की रचना की है । इन छंदों में इन्होंने गोपाल के गुण, साधु-संगति की महिमा और आत्मा-परमात्मा के मिलने से उत्पन्न आनन्द-दशा का वर्णन किया गया है । यथा —

" भाई रे गुन गोपाल कृपानिधि ।
दुख बिदारन सुखदाते सतिगुर जाकउ भेटत होइ सगल सिधि ।
सिमरत नाम मनहि साधारै ।
कोटि पराधी बिन मेहि तारै । "[2]

इन पंक्तियों में गोपाल के गुणों का वर्णन है । और —

" साध संगति निधि हरि को नाम ।
संग सहाई जीअ के काम ।
संत रेनु नित मजनु करै ।
जनम जनम के किलबिख हरै ।
संत जना की ऊची बानी ।
सिमरि सिमरि तरै नानक प्रानी । "[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-19, पृष्ठ 1270
2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1298
3 वही, महला 5, पद 2-2-13, पृष्ठ 1300

इन पंक्तियों में साधु संगति की महिमा का वर्णन है । परमात्मा से मिलना आत्मा का अंतिम साध्य है । इस साध्य को प्राप्त करके आत्मा को जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसका वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने इस प्रकार किया है —

" मंगलाचार भौग आनंदा
करि किरपा मिल परमानंदा ।
प्रभु मिले सुआमी सुखह गामी इछ मन की पुनीआ ।
बजी वधाई सहजे समाई बहुड़ि दुखि न रुनीआ ।
से कंठि लाए सुख दिखाए विकार विनसे मंदा ।
बिनवंति नानक मिले सुआमी पुरख परमानंदा । " [1]

(29) राग कल्याण - इस राग का उद्बोधक भाव प्रसन्नता है । इस राग में गुरु अर्जुनदेव ने 10 पदों की रचना की है । इनमें इन्होंने भगवान् की महिमा और उनकी कृपा का वर्णन किया है । भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है —

" हरि चरन सरन कलिआन करन । प्रभ नामु पतित पावनो ।
साध संग मनि निंग जम कालु तिसु न आवनो ।
मुकंति जुगति अनिक सुख हरि भगति तये न लावनो ।
प्रभ दरस सुखह वास नानक बहुड़ि जोनि न धावनो । " [2]

(30) राग प्रभाती - शान्ति और प्रसन्नता इस राग के उद्बोधक भाव हैं । गुरु अर्जुनदेव ने इस राग में 15 पद और 3 अष्टपदियों की रचना की है इनमें प्रभु महिमा, गुरु का महत्व तथा नाम-महिमा आदि का वर्णन किया गया है । प्रभु के सृजक रूप का वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है —

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1312
2 वही, महला 5, पद 2-6-10, पृष्ठ 1323

" मनु हरिजी कीजा तनु सबुजाजिआ ।
पंच तत रचि जोति निवाजिआ ।
सिरजा धरति बरतन कउ पानी ।
जिसु न बिसारहु सेवहु सारिग पानी । "[1]

" सिमरत नामु कलिबिख सभि काटे ।
धरमराइ के कागर फाटे ।
साध संगति मिलि हरिरसु पाइआ ।
पारब्रह्मु रिद महि समाइआ । "[2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गुरु अर्जुनदेव ने रागों की संयोजना शास्त्रानुकूल की है । इन रागों के द्वारा उन्होंने शास्त्रानुमोदित भावों की भी अभिव्यक्ति की है और इतर भावों की भी, जैसा कि अन्य संत-कवियों ने भी किया है ।

तुक योजना

संगीतात्मकता में राग-योजना की भाँति तुक-योजना का भी असंदिग्ध महत्व है । इस योजना से वक्तव्य अपेक्षाकृत अधिक सरस एवं प्रभावशील बन जाता है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में तुकों का समुचित तथा सफल प्रयोग सहज ही परिलक्षित हो जाता है । इनकी तुक-योजना केवल चरणान्त तक ही सीमित नहीं है, वरन् चरणों के आदि और मध्य में भी मिलती है । इनकी कविता रागबद्ध है, अतः चरणान्त तुक तो सर्वत्र ही मिलती है । यथा —

" हरि चरणी जा का मनु लागा ।
दुखु दरदु भ्रमु ताका भागा ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1337

2 वही, महला 5, पद 4-74, पृष्ठ 1348

हरि धन के वापारी पूरा ।
जिसहि निवाजे सो जनु सूरा ।"[1]

इन पंक्तियों में 'लागा' और 'आगा' में 'पूरा और 'सूरा' में व्यंजनों की समान संख्या तथा स्वरों की समता होने से उत्तम तुक है । इनका काव्य अधिकांशतः इसी प्रकार की तुकों से परिपूर्ण है । पर कहीं-कहीं ऐसी तुक-योजना भी मिलती है, जहाँ या तो वर्णों की संख्या समान नहीं है, या अन्तिम शब्द में ही साम्य है । इस प्रकार की तुक-योजना संगीतात्मकता का सम्पूर्ण प्रभाव प्रदान करने में सक्षम नहीं होती । यथा —

" जागहु सदा सोई है जिसु हरि धनु अंतरि ।
सो छूटै महा जाल ते जिसु गुरु विवेक निरंतरि । "[2]

यहाँ 'अंतरि' और 'निरंतरि' में वर्णों की संख्या समान नहीं है । और —

" तू जानहि ता कोई जाणै ।
तेरा दीआ नामु वखाणै । "[3]

यहाँ 'जाणै' और 'वखाणै' में केवल अन्तिम वर्ण में साम्य है ।

संगीतात्मकता की समृद्धि में चरणों के आदि और मध्य में आनेवाली तुकों का भी महत्वपूर्ण योग होता है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में इसी प्रकार की तुक-योजना की बहुलता है । यथा —

" जत कत पूरि रहीओ परमेसर कत आवै कत जाई ।"[4]

xx xx xx xx

" जप तप संजम गिआन सत बेला जिसु मनि वसै गोपाला । "[5]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-74, पृष्ठ 194
2 वही, महला 5, पद 4-2-104, पृष्ठ 396
3 वही, महला 5, पद 3-8, पृष्ठ 563
4 वही, महला 5, पद 4-12-13, पृष्ठ 615
5 वही, महला 5, पद 4-12-13, पृष्ठ 615

इन पंक्तियों में 'जत-कत' और 'जप-तप' चरणों के आदि में आने से आदि-चरण तुक-योजना है । और —

" बिनु नावै टरीऐ प्रीति हरीए ।
सीगार इहि रस अरपीऐ । "[1]

xx xx xx

" मिलि ब्रह्म जोति औती पोती उदकु उदकि समाइआ । "[2]

xx xx xx

" ग्रान अधार सुख बिसार दैनहार बुधि विवेक । "[3]

इन पंक्तियों में चरणों के मध्य में आई हुई तुकें संगीतात्मक का उत्कर्ष करती हैं । अतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव की तुक-योजना संगीतात्मकता की अभिवृद्धि के साथ-साथ भावों को भी सरस और ग्राह्य बनाने में महत्वपूर्ण योग प्रदान करती है ।

छंद - योजना

संगीत भाषा की ध्वनि का प्राण और भावों की समग्रेषणीयता का प्रमुख आधार है और संगीत का प्रमुख आधार है छंद । गुरु अर्जुनदेव ने अपनी वाणियों में संगीतात्मकता को प्रमुखता दी है, क्योंकि इनकी रचना गाने के लिए ही की गई है, अतः इनके काव्य में विविध छंदों का होना स्वाभाविक ही है । इनके द्वारा प्रयुक्त कुछ छंदों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

" साधि न जाणै बिनु भजन बिखिआ सगली छारु ।
हरि हरि नामु कमावना नानक इहु धनु सारु । "[4]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-4, पृष्ठ 454
2 वही, महला 5, पद 4-2-5, पृष्ठ 545
3 वही, महला 5, पद 2-2-15, पृष्ठ 1341
4 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 288

इसमें 13 और 11 मात्राओं पर यति है तथा प्रत्येक चरण में 24 मात्राएँ हैं । इसलिए यह दोहा छन्द है —

" बिनती करउ अरदासि, सुनहु मे ठाकुर मापे ।
देहु दरस मनि चाउ, भगति इहु मनु ठहरावे । "[1]

इन पंक्तियों में 11 तथा 13 मात्राओं पर यति होने से सोरठा छंद है ।

" खड़ी मनु हरि रंगी लोई,
गाती हरि नीहु न होइ,
इउ ढूंढेदी दरसन कारणि
बीती बीती पैखा
गुर मिलि भरमु गवाइआ है ।
इह बुधि पाई मै साधु कनहु
लेखु लिखिओ पूरे माथे ।
इह मिलि नानक हरि मेल अलोई । "[2]

इस पद के एक से अधिक चरण समान न होने के कारण अनेक-तुका छंद है ।

" गुन समूह फल सगल मनोरथ ।
पूरन होइ आस हमारी ।
अउखध मंत्र तंत्र पर दुख हर
सरब रोग खंडन गुन कारी । "[3]

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 9, पृष्ठ 1385

2 वडी, महला 5, पद 2-1-18, पृष्ठ 715

3 वडी, महला 5, पद 9, पृष्ठ 1387

यहाँ पर प्रत्येक चरण में 32 मात्राएँ हैं और 16-16 मात्राओं पर यति तथा अंत में यगण है। अतः यह सवैया छन्द है। इनके काव्य में सवैया छन्द का दूसरा रूप भी मिलता है जिसमें अन्त में यगण के स्थान पर भगण होता है। यथा —

" ब्रह्मादिक सिव छन्द मुनीसर,
रसिक रसकि ठाकुर गुन गावत
इन्द्र मुनिंद्र धीजते गोरख,
धरनि गगन आवत फुनि धावत। "[1]

चार चरण प्रति चरण 14 मात्राएँ तथा अंत में गुरु लघु होने से यहाँ पर कंकाल छंद है —

" गुरु सेवउ करि नमसकार,
आजु हमारे मंगलाचार।
आजु हमारे महा आनंदु,
चिंत लवी भेटे गोविन्द। "[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में 13-13 मात्राओं पर यति तथा अंत में लघु होने से गीता छन्द है —

" सेवी सतिगुरु आपना,
हरि सिमरी दिन रैन।
आजु तिआगि सरणी पवां, मुखि बोलो मिठड़े बैन। "[3]

तथा

" जो दीसे सो एको तु है,
बाणी तेरी सबद सुणीऐ।

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 1180
2 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 136
3 वही, महला 5, पद 1, पृष्ठ 1076

दूजी अवर न जानसि कोई,
सगल तुमारी धारणा । "[1]

इसके चतुर्थ चरण में 13 मात्राएँ, अंत में लघु गुरु होने से तथा कुल मात्राएँ 16 होने से यहाँ पर धनकला छन्द है ।

छन्द शीर्षक के अन्तर्गत आई हुई रचनाओं में कई प्रकार के छन्द है । निम्नलिखित पद में उल्लास (हुलास) छन्द का रूप दृष्टिगोचर होता है —

" अनदो अनदु भया मेरी माए सतगुरु मैला रामु ।
घरि आवो घरि आवो मेरे हरि रसु मीठा रामु ।
हरि रसु मीठा मनि वसिआ दुख हउमै विचहु गवासा ।
गुरु वलि आइआ मंगलु गाइआ पंच दुसट ओई भागि गइआ ।
सीतल सबदे अमृत बाणी सजन संत मीठा ।
कहु नानक हरि सिउ मन मानिआ सो प्रभ मेरी डीठा । "[2]

पउड़ी शीर्षक के अन्तर्गत गुरु अर्जुनदेव की जो रचनाएँ है इनमें भी कई छन्द प्रयुक्त हुए है । यथा, रोला का पउड़ी का निम्न उदाहरण प्रस्तुत है —

"रे मन बिन हरि जउ रचहु तउ तउ बंधन पाहि ।
जिउ बिंध कतहु न छूटीए साकत तेउ कमाहि । "[3]

तथा चउपदी का पउड़ी के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहि, महला 5, पद 1, पृष्ठ 1076
2 वही, महला 5, पद 4-1, पृष्ठ 452
3 वही, महला 5, पद 10-2, पृष्ठ 837

" भ्रमा भरमु मिटावहु अपना ।
इआ संसार सगल है सुपना ।
भरमे सुरि नर देवी देवा ।
भरमे सिध साधिक ब्रह्मेवा । "[1]

इस प्रकार के उदाहरण इनके काव्य में सहज ही मिल जाते हैं ।

" मन प्रीति दरसन पिआस ।
गोविंद पूरन आस ।
इक निरखत रहनु न जाइ ।
वड भागि नानक पाइ । "[2]

प्रति चरण 12 मात्राएँ होने से तथा अंत में गुरु-लघु होने के कारण तोमर छन्द है ।

निम्नलिखित चार चरणों में, प्रति चरण 21 मात्राएँ, तथा 11 पर यति तथा जगणांत होने से, और दूसरे छंद में 10 मात्राओं पर यति तथा रगणांत होने से पुनरा छन्द है —

" धावउ दसा अनेक प्रेम प्रब कारणे ।
पंच सतावहि दूत कवन विधि मारणे । "[3]

जहाँ प्रत्येक चरण में 28 मात्राएँ, 16-12 पर यति तथा अंत में गुरु हो, वहाँ दुवेया छन्द होता है । निम्नलिखित पंक्तियों इसी छन्द की हैं —

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 9, पृष्ठ 250-251

2 वही, महला 5, पद 40, पृष्ठ 258

3 वही, महला 5, पद 16, पृष्ठ 1361

" श्रीधर मोहन सगल उधारन,
निरंकार सुखदाता,
जीउ पिंड तन मन सब प्रभु का,
साकत कहते मेरा,
अहंबुधि दुरमति है मैली,
बिन गुरु भवजल फेरा । "[1]

निशानी छन्द के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत है —

" भली सुहावी छापरी, जा महि गुन गाए ।
कितडी कामि न छउतहर, जितु हरि बिसराए । "[2]

यही प्रत्येक चरण में 23 मात्राएँ हैं, तथा 13 और 10 पर यति, अन्त में दो गुरु हैं । अतः निशानी छन्द है ।

पद छन्द में पहला चरण छोटा होता है और शेष चरणों की रचना में कोई विशेष नियम नहीं होता । इस के अन्तर्गत आई हुई रचनाओं में अनेक छन्दों के रूप परिलक्षित होते हैं । निम्नलिखित पद में 6 चरण हैं, पहले चरण में 14 मात्राएँ, शेष पाँच चरणों की 28-28 मात्राएँ, 16-12 पर यति और सबके अंत में दो गुरु हैं । अतः यहाँ पर सारे छन्द का रूप दृष्टिगोचर होता है —

" प्रभ सिमरत दुख बिनासी,
भइयो कृपालु जीअ सुखदाता,
होई सगल खलासी,
अवरु न कोई सूझै प्रभु बिनु,
कहु को बिधु पाडि जासी ?

---

1 श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 4-1-41, पृष्ठ 1138

2 वही, महला 5, पद 4-1-41, पृष्ठ 745

जिउ जागहु तिउ राखहु ठाकुर,
सत्र किछु तुमही पासी,
जाव देई राखे प्रभ अपने,
सह जीवन अविनासी,
बहु नानक मन अनद भया है ,
काटी जत की फासी । "[1]

अतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव की छन्द-योजना अत्यन्त समृद्ध है ।

सारांश

गुरु अर्जुनदेव का काव्य श्रमसाध्य न होकर सहज भावनाओं से अनुप्राणित है, अतः इसमें सफल काव्य के अपेक्षित गुण अनायास ही मिल जाते हैं । भावपक्ष और कलापक्ष काव्य के ये दो अंग होते हैं । भावपक्ष के अन्तर्गत विशेषतः वर्ण्य-विषय और रस-योजना का विवेचन किया जाता है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में मुख्य भाव भक्ति का है । इसी भाव की सम्प्रेषणीयता प्रमुख उद्देश्य है और अपने उद्देश्य में इनको सफलता भी मिली है । इनकी रस-योजना यद्यपि रससिद्ध-कवियों की योजना की भाँति श्रमसाध्य और अलंकृत नहीं है, तथापि इनके काव्य में शान्त रस, भक्ति रस, शृंगार रस, वीर रस, करुण रस, अद्भुत रस, हास्य रस और भयानक रस की संयोजना सरस एवं भावपूर्ण है । भक्ति की विविध विचारधाराओं को प्रवाहित करके और उनमें साधारण प्राणियों को स्नात करके शुद्ध और निर्मल बनाना इनका ध्येय है । इनकी रस-योजना इस ध्येय को पूर्ण बनाने में सफल है ।

कल्पना-शक्ति का भावपक्ष में विशेष योगदान होता है । गुरु अर्जुनदेव ने अपने प्रतिपाद्य के अनुसार ही कल्पना का प्रयोग किया है । यही इन्होंने

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब, महला 5, पद 2-28-51, पृष्ठ 1214

विराट् तत्वों का चित्रण किया है वहीं पर इनकी विराट् कल्पना, और जहाँ पर मधुर तत्वों का चित्रण किया है वहीं पर मधुर कल्पना ही परिलक्षित होती है । भक्ति की महत्ता का विवेचन करते हुए भी इनकी कल्पना ने जिन सांसारिक पदार्थों का प्रयोग किया है, उनके द्वारा इनका वक्तव्य अत्यधिक प्रभावशाली बन गया है । अतः कहा जा सकता है कि इनकी कल्पना-शक्ति में प्रतिपाद्य का सजीव वर्णन करने की पूर्ण क्षमता है ।

प्रकृति का मानवीय भावों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है । गुरु अर्जुनदेव के काव्य में यद्यपि प्रकृति का पर्याप्त चित्रण मिलता है, किन्तु प्रकृति-कवियों की भाँति न तो इन्हें प्रकृति-सौंदर्य से लगाव था और न इन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण ही किया था । संत-कवियों का प्रकृति के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रहा है । वे अपनी भावाभिव्यक्ति के साधन-रूप में ही प्रकृति का प्रयोग करते थे । ऐसा ही गुरु अर्जुनदेव ने भी किया है । इसीलिए इनमें प्रकृति की सुरम्यता और विविधता नहीं वरन् इसके माध्यम से आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति ही प्रधान है ।

भाषा के प्रति गुरु अर्जुनदेव का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार रहा है, इसीलिए इन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत, पंजाबी, लहंदी, सिंधी, ब्रजभाषा और अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है । इससे इनकी भाषा में शक्ति और सुगमता आई है । भाषा की शक्ति को सबल बनाने वाले अलंकार आदि अन्य तत्वों का भी इनके काव्य में सहज प्रयोग मिलता है । इनके काव्य में संगीतात्मकता का प्राधान्य होने के कारण शब्दालंकारों की सहज योजना होना स्वाभाविक ही है । अर्थालंकारों में यद्यपि इन्होंने अनेक अर्थालंकारों का प्रयोग किया है, तथापि प्रधानता उपमा, रूपक और विरोधाभास की है । ये अर्थालंकार ही इनके प्रतिपाद्य के बहुत अनुकूल हैं । उपमा और रूपक में यदि परमात्मा के सूक्ष्म और विराट् चित्रों का अंकन करने की पूर्ण क्षमता है

तो विरोधाभास में उसके विरोधी आभासित होने वाले गुणों का चित्रण करने की शक्ति है । अलंकारों का सफल प्रयोग इनके काव्य में मिलता है फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि अलंकारों का प्रयोग या तत्प्रत्य चमत्कार इनका साध्य नहीं था । दूसरों को उपदेश देने के लिए इनके हृदय में जो आवेग फूटा, वही स्वाभाविक रूप से अलंकृत होकर भावों का उत्कर्षक बन गया । यही कारण है कि इनका अलंकार-विधान भावोत्कर्षक है ।

प्रतीकों का भी इन्होंने प्रचुरता से प्रयोग किया है । इनके प्रतीक परम्परागत हैं । किन्तु जिस प्रकार की भावाभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया है वे उन भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं । इनके प्रतीकों को मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - साधना पद्धति से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक प्रतीक, संख्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त प्रतीक, रूपक अभ्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक और उलटबासियों के प्रतीक ।

काव्यगुण भी भाषा की शक्ति के प्रमुख आधार हैं । इनके काव्य में प्रसाद और माधुर्यगुण का तो प्राचुर्य है, किन्तु ओज का अभाव है । इसका कारण यह है कि इनका काव्य सामान्य जनता में भक्ति-भावों का प्रचार करने के लिए था, इसीलिए इसमें सरलता और मधुरता ही अपेक्षित गुण थे ।

शब्द-शक्तियों का भावपूर्ण प्रयोग भी इनके काव्य में बहुलता से मिलता है, किन्तु लक्षणा और व्यंजना की अपेक्षा अभिधा की प्रधानता है ।

संगीतात्मकता की दृष्टि से इनका काव्य अत्यन्त समृद्ध है । इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने काव्य की रचना संगीत के माध्यम से भक्ति प्रचार के लिए की है । इन्होंने तीस रागों का सफल प्रयोग अपने काव्य में

किया है । रागों के अतिरिक्त तुक और छन्द भी संगीतात्मकता को प्रभावशाली बनाने में सहायक होते हैं । इनकी तुक-योजना में केवल अन्त तुक ही नहीं मिलती, वरन् चरणों के मध्य में भी तुकों की इस प्रकार की संयोजना है कि वह संगीतात्मकता और भावात्मकता दोनों के प्रभाव में वृद्धि करती है । तुक-योजना की भाँति इनकी छन्द-योजना भी सफल है । इन्होंने दोहा, सोरठा, अनंत तुक, कमल, गीता, चनकला, छंद, पउड़ी, पुनहा, दुवैया, निशानी आदि अनेक छंदों का सफल एवं भावपूर्ण प्रयोग किया है ।

अतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव की काव्य-कला स्वभाविक रूप से उन सभी गुणों से मंडित है जो सहज काव्य की सफलता के लिए अपेक्षित होते हैं ।

****
*****
***
*

पंचम अध्याय

सम्पादन - कला

गुरु अर्जुनदेव : सम्पादन कला

प्रत्येक महापुरुष अपनी युगीन परिस्थितियों के प्रति जागरूक होता है और भटकते युग को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है, जिससे युग की भावनाओं में स्थायित्व आता है । यदि हम गुरु अर्जुनदेव-कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालें, तो कह सकते हैं कि उस समय समाज अपने कर्तव्य को भूलकर दुष्कर्मों की ओर बढ़ रहा था । धार्मिक परिस्थितियाँ, जो अव्यवस्थित एवं आडम्बरी धर्म-सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित थीं, इस बढ़ावे को और भी अधिक प्रोत्साहन दे रही थीं । सिख-धर्म का अभ्युदय सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अपनी पवित्रता आदि गुणों के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हुआ था । कालांतर में उसकी परिणति यह हुई कि सिख-धर्मावलम्बी भी परस्पर फूट के शिकार हो गये, वरन उनकी धार्मिक उदारता भी संकुचित होती गई । झूठी प्रतिष्ठा के लोलुप मनुष्य गुरुओं के नाम पर स्वयं ही वाणी का

सृजन करके लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे ।[1] गुरु अर्जुनदेव ने अनुभव किया कि गुरुओं की वाणी की सुरक्षा और उनके द्वारा धार्मिक अव्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक है, जिससे भटकता हुआ समाज अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके, और गुरुओं एवं संतों की वाणियाँ पुस्तकाकार में सुरक्षित होकर उसे सहज ही सुलभ हो सकें ।[2] फलतः आदिग्रन्थ का सम्पादन हुआ । इस विशालकाय ग्रन्थ में जो सामग्री सम्पादित की गई है उसे निम्नलिखित सारणियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । ये सारणियाँ आदिग्रन्थ (श्री गुरुग्रन्थसाहिब) के आधार पर बनाई गई हैं ——

---

1 (क) केसरसिंह छिब्बर : बंसावली नामा, पृष्ठ 48

(ख) सरूपदास भल्ला : महिमा प्रकाश, साखी अंक, पृष्ठ 132

(ग) भाई संतोख सिंह : गुरु प्रताप सूरज, पृष्ठ 1023

(घ) संतरेन प्रेमसिंह : गुरुपुर प्रकाश, भाग 2, पृष्ठ 618–619

(ङ) डॉक्टर ग्रीनलीस : गोस्पलस आफ गुरुग्रन्थसाहिब, पृष्ठ lxx

(च) ट्रम्प (अर्नेस्ट) : आदिग्रन्थ (भूमिका), पृष्ठ 80–81

2 (क) कनिंघम : हिस्ट्री आफ सिखज़, पृष्ठ 46

(ख) मैकालिफ : दि सिख रिलीजन, भाग 3, पृष्ठ 55

(ग) लोहन : दि सिखज एण्ड देअर सक्रिप्चरज, पृष्ठ 31–32

गुरु नानकदेव जी की वाणी का ब्यौरा

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट वाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
		38	—	—	—	2	—
1	सिरी राग	33	18	2 पहरे	—	7	—
2	माझ	—	1	—	—	46	27
3	गौड़ी	20	18	—	2	—	—
4	आसा	40	22	35 पट्टी	—	44	24
5	गूजरी	2	5	—	—	—	—
6	विडागड़ा	—	—	—	—	2	—
7	वड हंसु	3	—	5 असटपदियाँ	2	3	—
8	सोरठि	12	4	—	—	2	—
9	धनासरी	9	2	—	3	—	—
10	तिलंग	6	—	—	—	—	—
11	सूही	9	5	1 सुचजी	5	21	—
				1 कुचजी			
12	बिलावलु	4	2	20 थिती	2	2	—

गुरु नानकदेव जी की बाणी का ब्यौरा – (जारी)

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
13	रामकली	11	9	54 ओंकार 73 सिद्ध गोसटि	–	19	–
14	मारू	12	11	22 सोदसे	–	18	–
15	तुखारी	–	–	17 बारह माह	5	–	–
16	भैरउ	8	1	–	–	–	–
17	वसंतु	10	8	–	–	–	–
18	सारंग	3	2	–	–	33	–
19	मलार	9	5	–	–	24	27
20	प्रभाती	17	7	–	–	–	–
	श्लोक सहस्रकृति	–	–	–	–	4	–
	श्लोक वारतों बदीक	–	–	–	–	32	–

गुरु अंगददेव जी की वाणी का ब्यौरा

	राग	महल्ला	सलोक
1	वार सिरी राग	म॰ 4	2
2	वार माझ	म॰ 1	12
3	वार आसा	म॰ 1	14
4	वार गौरड़े	म॰ 4	1
5	वार गूजरी	म॰ 3	11
6	वार रामकली	म॰ 3	7
7	वार मारू	म॰ 3	1
8	वार मारू	म॰ 5	1
9	वार सारंग	म॰ 4	8
10	वार मलार	म॰ 1	5

गुरु अमरदास जी की बाणी का ब्यौरा

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
1	सिरी राग	31	8	–	–	33	–
2	माझ राग	–	32	–	–	3	–
3	गउड़ी	18	9	–	5	7	–
4	आसा	13	15	18 वट्टी	2	–	–
5	गूजरी	7	1	–	–	42	22
6	विडहंस	–	–	–	–	33	–
7	वड हंसु	9	2	4 अलाहणियाँ	6	40	–
8	सोरठि	12	3	–	–	48	–
9	धनासरी	9	–	–	–	–	–
10	सूही	–	4	–	7	14	20
11	विलावलु	6	1	10 वार सत	–	24	–
12	रामकली	1	5	40 आनंद	–	24	21

गुरु अमरदास जी की बाणी का ब्योरा – (जारी)

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
13	मारू	5	1	24 सोदते	–	23	22
14	भैरउ	21	2	–	–	–	–
15	बसंत	20	–	–	–	–	–
16	सारंग	–	3	–	–	23	–
17	मलार	13	3	–	–	27	–
18	प्रभाती	7	2	–	–	–	–
	सलोक वारां ते वधीक	–	–	–	–	67	–

गुरु रामदास जी की बाणी का ब्यौरा

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
1	सिरी राग	6	—	1 पहरे 1 बनजारा	1	—	21
2	माझ राग	7	—	—	—	2	—
3	गउड़ी	32	—	2 करहले	—	53	28
4	आसा	16	—	—	14	—	—
5	गूजरी	7	1	—	—	—	—
6	देवगंधारी	6	—	—	—	—	—
7	बिहागड़ा	6	—	—	—	2	—
8	वड हंसु	3	—	2 घोड़ियाँ	4	—	21
9	सोरठि	9	—	—	—	7	29
10	धनासरी	11	—	—	—	—	—
11	जैतसिरी	3	—	—	1	—	—
12	टोडी	1	—	—	—	—	—
13	बैराड़ी	6	—	—	—	—	—

गुरु रामदास जी की वाणी का ब्यौरा – (जारी)

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट वाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
14	तिलंग	2	–	–	–	–	–
15	सूही	15	2	–	6	–	–
16	बिलावलु	7	6	–	2	1	13
17	रामकली	6	–	–	–	–	–
18	नट नारायण	9	6	–	–	–	–
19	माली गउड़ा	6	–	–	–	–	–
20	मारू	8	–	2 सोहले	–	3	–
21	तुखारी	–	–	–	4	–	–
22	केदारा	2	–	–	–	–	–
23	गौंड	6	–	–	–	–	–

गुरु रामदास जी की बाणी का ब्यौरा – (जारी)

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	श्लोक	पउड़ियाँ
24	भैरउ	7	–	–	–	–	–
25	बसंत	7	1	–	–	–	–
26	सारंग	13	2	–	–	6	35
27	मलार	9	–	–	–	–	–
28	कानड़ा	12	6	–	–	30	15
29	कल्याण	7	6	–	–	–	–
30	प्रभाती	7	–	–	–	–	–
	श्लोक वार तीं वधीक					30	

गुरु अर्जुनदेव जी की वाणी का ब्यौरा

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट वाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
1	सिरी राग	30	3	1 पहरे	2	1	—
2	माझ राग	43	5	1 बारह माह	—	—	—
				1 दिनरैण			
3	गउड़ी	172	15	110 बावन अखरी	4	50	26
				24 सुखमनी			
				34 थिती			
4	आसा	163	2	3 बिरहड़े	14	—	—
5	गुजरी	32	2	—	—	42	21
6	देवगंधारी	38	—	—	—	—	—
7	बिहागड़ा	1	—	—	9	2	—
8	वडहंसु	9	—	—	3	—	—
9	सोरठि	94	3	—	—	—	—
10	धनासरी	58	1	—	1	—	—

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
11	जैतसिरी	13	–	–	3	40	20
12	टोडी	30	–	–	–	–	–
13	बैराड़ी	1	–	–	–	–	–
14	तिलंग	5	–	–	–	–	–
15	सूही	58	5	गुणवंती	11	–	–
16	बिलावलु	129	2	–	5	–	–
17	गौड	22	1	– -	–	–	–
18	रामकली	60	8	24 सीत	5	44	22
19	नटनारायण	10	–	–	–	–	–
20	मालीगउड़ा	8	–	–	–	–	–
21	मारू	32	6	2 अंजुलियाँ 14 सोहले	–	71	23
22	तुखारी	–	–	–	1	–	–
23	केदारा	15	–	–	1	–	–

गुरु अर्जुनदेव जी की बाणी का ब्यौरा – (जारी)

	राग का नाम	पद	अष्टपदियाँ	विशिष्ट बाणियाँ	छंत	सलोक	पउड़ियाँ
24	गौड़	57	3	–	–	–	–
25	बसंत	21	2	1 बसंत की वार	–	–	–
26	सारंग	139	2	–	1	3	1
27	मलार	30	–	–	1	2	1
28	कानड़ा	50	–	–	1	–	–
29	कल्याण	10	–	–	–	–	–
30	प्रभाती	15	3	–	–	–	–
	श्लोक सहस्रकृति	–	–	–	–	67	–
	श्लोक कबीर	–	–	–	–	5	–
	श्लोक फरीद	–	–	–	–	8	–
	श्लोक वारां तों वधीक	–	–	–	–	22	–
	रागों से आगे की बाणी			24 माथा 23 फुनहे 11 चउबोले 20 सवैये 2 सुखमनी			

गुरु तेगबहादुर जी की वाणी का ब्योरा[1]

	राग का नाम	पद	सलोक
1	गउड़ी	9	—
2	आसा	1	—
3	देवगंधारी	3	—
4	बिहागड़ा	1	—
5	सोरठि	12	—
6	धनासरी	4	—
7	जैतसिरी	3	—
8	टोडी	1	—
9	तिलंग	3	—
10	बिलावलु	3	—
11	रामकली	3	—
12	मारू	3	—
13	बसंत	5	—
14	सारंग	4	—
15	भैरवंती	4	—
	सलोक वारां तो वधीक	—	57

1 ये वाणियां गुरु अर्जुनदेव के पश्चात् आदिग्रन्थ में संकलित की गईं, अतः इनकी सम्पादन-कला में इनका उल्लेख नहीं किया गया है ।

भक्तों की बानी का ब्यौरा — (क)

क्रम संख्या	नाम	सिरी राग	गउड़ी	आसा	गूजरी	देवगंधारी	बिहागड़ा	वडहंस	सोरठि	धनासरी	जैतसरी	टोडी	बैराड़ी	तिलंग	सूही	बिलावल	गोंड	रामकली
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16			
1	कबीर	2	74	37	3	9	11	5	—	—	1	5	12	11	14			
2	रामानंद	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
3	सेन	—	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—			
4	रैदास	1	5	6	1	—	7	3	1	—	—	3	2	2	1			
5	धीरा	—	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—			
6	धन्ना	—	—	2	—	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—			
7	सधना	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—			
8	नामदेव	—	1	5	2	—	3	5	—	3	2	—	1	7	4			
9	त्रिलोचन	1	—	—	2	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—			
10	बेणी	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1			
11	जयदेव	—	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			

	भक्त का नाम	मलीनकला	सलोक	फुनहे	चौबोले	सवैये	कारी	महले	कलिआं	गउड़ी	वार	वार की पउड़ी	संख्या (ब) + (स)
1	2	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28
1	कबीर	–	12	6	18	7	3	–	–	5	243	सावन अखरी 45 बिती 16 वार 8	541
2	रामानंद	–	–	–	–	1	–	–	–	–	–	–	1
3	सैन	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
4	रैदास	–	2	1	1	1	–	3	–	–	–	–	40
5	पीपा	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
6	धन्ना	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	3
7	सधना	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
8	नामदेव	4	1	–	11	3	3	2	1	3	–	–	60
9	त्रिलोचन	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	4
10	बेणी	–	–	–	–	–	–	–	–	1	–	–	3
11	जयदेव	–	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	2

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
12	सूरदास	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
13	परमानंद	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
14	कबीर	—	—	2	—	—	—	—	—	1	—	2	—	—	—
15	जीवन	—	—	—	—	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—
16	सुन्दर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	6
17	सना और बलवंत	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	8
18	मरदाना	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

1	2	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	
12	सुरदास	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—	—	1	(तुक)
13	परमानंद	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—	—	1	
14	कृष्णदास	—	—	—	—	—	—	—	—	—	118	—	122	
15	श्रीवन	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2	
16	सुन्दर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	6	
17	सत्ता और बलवंत	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	8	
18	परधाना	—	—	—	—	—	—	—	—	—	3	—	3	

भाटों की वाणी का ब्यौरा

क्र. सं.	नाम	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
1	कल्लहार	10	10	9	13	12	54
2	जालप	–	–	5	–	–	5
3	कीरत	–	–	4	4	–	8
4	भिखा	–	–	2	–	–	2
5	खल	–	–	1	2	–	3
6	भल	–	–	1	–	–	1
7	नल	–	–	–	16	–	16
8	गयंद	–	–	–	13	–	13
9	मधुरा	–	–	–	7	7	14
10	बल	–	–	–	5	–	5
11	हरिबंस	–	–	–	–	2	2

सामग्री के स्रोत

आदिग्रन्थ की विशाल सामग्री गुरु अर्जुनदेव को किस प्रकार प्राप्त हुई, इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। इन मन्तव्यों की समीक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि आदिग्रन्थ की सामग्री को दो वर्गों में विभाजित कर लिया जाए – गुरुवाणी और संतवाणी। यह विभाजन इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि इन दोनों प्रकार की वाणियों पर प्राप्ति-स्रोतों का अन्वेषण करते समय विद्वानों ने इन्हें पृथक्-पृथक् रखा है।

गुरु-वाणियों के प्राप्ति-स्रोतों पर विद्वानों ने भिन्न मत व्यक्त किए हैं। इन विद्वानों को – मतों की दृष्टि से – दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —

(1) पहला वर्ग उन विद्वानों का है जो यह मानते हैं कि गुरु अर्जुनदेव को बाबा मोहन से पोथियाँ प्राप्त हुईं और शेष वाणियाँ उन्होंने अपने प्रयत्नों से प्राप्त कीं। इस वर्ग के विद्वानों में गुरुसूरजप्रकाशकार,[1] गुरुविलासकार,[2] गुरुपुरबप्रकाशकार,[3] ज्ञानी प्रतापसिंह,[4] प्रिंसिपल तेजासिंह,[5] जोगिन्दरसिंह[6] आदि और पाश्चात्य विद्वानों में मैक्लाफ,[7] ट्रम्प[8] और डंगन ग्रीनलेस[9] आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

---

1 गुरु प्रताप सूरज रास 1, अंश 59 (सं. संतोख सिंह)

2 गुरु विलास कृत मोहन जी (सं. ज्ञानी इन्द्र सिंह गिल), पृष्ठ 52–55

3 प्रेम सिंह – पृष्ठ 619–625

4 गुरमत लेक्चर – पृष्ठ 74

5 हिस्ट्री आफ सिक्खज़ भाग 1, पृष्ठ 30

6 पंजाब दा इतिहास – जोगिन्दर सिंह, पृथीपाल सिंह – पृष्ठ 90–91

7 द सिख रिलीजन : भाग 43, पृष्ठ 55–56

8 आदिग्रन्थ : ट्रम्प (अंग्रेज़ी) – भूमिका 80–81

9 गोसपल आफ गुरु ग्रन्थसाहिब, भूमिका, 1xx – 1xx

(2) दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो यह मानते हैं कि गुरू अर्जुनदेव को वाणियाँ गुरू गद्दी-परम्परा से प्राप्त हुईं। इस वर्ग के विद्वानों में डॉ. साहिबसिंह,[1] डा. धर्म पाल मैनी[2] आदि प्रमुख हैं।

डॉ. साहिबसिंह ने प्रथम वर्ग के विद्वानों के मतों का विस्तार से खंडन किया है। उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे दो बातों को सिद्ध करने के लिए हैं। एक तो यह है कि अपनी वाणियाँ गुरू नानकदेव जी ने स्वयं लिखीं और दूसरी यह कि बाबा मोहन के पास पोथियाँ नहीं थीं। प्रथम मान्यता से सम्बद्ध उनके प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं —

1. यह बात सम्भव प्रतीत नहीं होती कि गुरू नानकदेव के मन में अपनी वाणियों के संग्रह की प्रेरणा न जगी हो। उन्होंने लोक-कल्याण के निमित्त सांसारिक सुखों को तिलांजलि दी और लोगों के दुःख-निवारण करने के लिए दूर-दूर देशों की यात्राएँ कीं। ऐसी परिस्थिति में उनके मन में अपनी वाणियों के संग्रह के प्रति अवश्य भावना जगी होगी।

2. गुरू नानक के भक्तों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे कलम-दवात लेकर बैठें और वाणियाँ लिखते जाएँ। अनजान प्रदेश के भक्तों के लिए तो यह बात और भी अधिक कठिन थी।

3. गुरू नानकदेव के परम सहचर शिष्य मरदाना आदि पढ़े-लिखे नहीं थे, अतः वे गुरू-वाणी लिख ही नहीं सकते थे।

4. यह भी असंगत प्रतीत होता है कि गुरू नानक तथा अन्य गुरू सदैव संगीतमय ही शिक्षा देते हों।

---

1 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 8।

2 संतों के धार्मिक विश्वास, पृष्ठ 55

5. गुरुग्रन्थसाहिब में कुछ वाणियाँ असमान रूप से लम्बी हैं ; उदाहरणार्थ 'राग आसा' में 'पट्टी', रामकली में 'ओं अकार' और 'सिद्ध-गोसटि' ; राग तुखारी में 'बारह माह' और प्रारम्भ में जपुजी आदि पर्याप्त लम्बी वाणियाँ हैं । क्या वे प्रारम्भ से अंत तक गाई गई होंगी ? यदि गायी गई होंगी तो कितना समय लगा होगा ?

6. बल्ला नामक सिख ने यदि गुरु वाणियाँ संगृहीत की थीं और उसपर गुरुओं के हस्ताक्षर करा लिए थे, तब क्यों गुरु अर्जुनदेव ने उस प्रति में से कुछ ही वाणियाँ छोटीं ? क्या शेष वाणियाँ गुरु-वाणियाँ न थीं ?

7. प्रत्येक पिता अपने पुत्रों के लिए कुछ-न-कुछ सम्पत्ति छोड़ जाता है तो क्या दीन-दुनिया के स्वामी गुरु नानक पिता हमारे लिए कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गए ?

8. परन्तु विचार की कसौटी पर ज्ञानी जी की यह मान्यता भी खरी नहीं उतरती । संसार में जो भी सुधारक आता है, वह थोड़े समय के लिए ही कम नहीं करता । ऐसा सुधार तो उस महापुरुष की आँखें बंद होते ही समाप्त हो जाता है । भावी पीढ़ियाँ उसके सुधार से तभी लाभान्वित हो सकती हैं जब उसका उपदेश लिखित रूप में आ गया हो । साधारण मनुष्य भी इस नियम को समझता है । आईजारे के जीवन में सदियों से पड़ी हुई दरार पीढ़ियों के मौखिक परिश्रम से दूर नहीं हो सकती थी । इसीलिए गुरु नानकदेव जी ने कुछ समय तक गुरु-परम्परा वाली मर्यादा को बनाये रखना आवश्यक समझा था । फिर, वाणी में भी इसका वर्णन आता है —

" परवाह साखी महा पुरख बोलदे
साखी सगल जहानै "

---

1 कुछ और धार्मिक लेख - पृष्ठ 9-8।

अर्थात् किसी महापुरुष का किसी एक मनुष्य को दिया गया उपदेश स्थायी रूप से समस्त संसार के लिए हुआ करता है ।

परन्तु यह उपदेश सारे संसार के लिए तभी सम्भव हो सकता है, जब सारे संसार के प्रयोग में लाने के लिए उसका प्रबन्ध किया गया हो । इसलिए, यह तो नहीं हो सकता कि किसी एक व्यक्ति के सुधार के लिए कहा हुआ कोई शब्द गुरु नानकदेव जी ने यहीं समाप्त कर दिया हो और उसको समस्त संसार की एकता के लिए सुरक्षित रखने का कोई उपाय न किया हो । गुरु नानकदेव के समय कागज़, कलम, स्याही आदि की कोई कमी नहीं थी । अपने शब्दों को लिखकर अपने पास रखते जाना ही एक उपाय था, जिससे उनकी बोली हुई साखी 'साखी सगल बहाने' हो सके ।[1]

9. किसी सुधारक महापुरुष को स्वयं ही अपने कार्य और उत्तरदायित्व की महत्ता का जितना ध्यान होता है, उतना किसी अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता । समाज से कुरीतियाँ दूर करने के लिए बोले हुए शब्दों को यदि कोई महापुरुष समस्त देश में प्रचार करने के लिए और भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के लिए स्वयं ही लिखित रूप में संभालने का यत्न नहीं करता तो इस प्रकार का सत्कार्य और कौन क्यों करेगा ?[2]

10. कवि-सम्मेलनों में जनता प्रसिद्ध कवियों की सुन्दर कविताओं को सुनने के लिए जाती है । कई कविताएँ ऐसी भी सुनाई जाती हैं जिनके लिए बहुत अधिक तालियाँ बजती हैं, और दो-दो, तीन-तीन बार सुनाए जाने के लिए अनुरोध किया जाता है । परन्तु ऐसे स्थान पर कभी ऐसे श्रोता नहीं देखे गए जो इन मनोरंजक कविताओं को उस समय लिखकर अपने पास एक उपहार के रूप में संभाल कर रखने का यत्न करते हैं । गुरु नानकदेव जी

---

1 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 20

2 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 21

के समय वे विलक्षण व्यक्ति होंगे, जिनको किसी महापुरुष की कोई बाणी या शब्द लिख कर रखने का शौक होगा ?[1]

11. दीवाली के अवसर पर प्रत्येक वर्ष अमृतसर शहर के बाहर रामबाग की ओर सैंकड़ों साधु आकर एकत्र होते हैं । पाँच-सात दिन तक अच्छी रौनक रहती है । शहर की अनेक श्रद्धालु स्त्रियाँ अनेक स्वादिष्ट पकवान इन संतों और साधुओं के लिए लाती हैं, बड़े चाव से उनकी सेवा करती हुई मुँह से 'धन्य संत जी, धन्य संत जी' कहती हुई थकती नहीं । सारे दिन बड़ा मेला लगा रहता है । केवल स्त्रियाँ ही नहीं, सैंकड़ों-हज़ारों पुरुष भी उनके दर्शनार्थ आते हैं । और इन साधुओं में कई विद्वान् भी होते हैं जो दर्शनार्थी जनता को जीवन-पथ के मनोहर उपदेश भी देते हैं । लोगों को मालूम है कि प्रत्येक वर्ष दिवाली के समय यह सत्संग बड़ी कई दिन लगा रहता है । लोग बड़ी जाते भी हैं, संतों के वचन भी सुनते हैं, परन्तु कभी कोई ऐसा प्रेमी देखने में नहीं आया जो घर से कागज, पेंसिल साथ लेकर इस विचार से आया हो कि संतों के अमूल्य वचन लिखकर ले जाने हैं । सतिगुर नानकदेव जी के समय भी आखिर ऐसे ही व्यक्ति इस धरती पर थे ।[2]

12. मनुष्य-स्वभाव की बात को छोड़ दीजिए । गुरु नानकदेव जी ने मनुष्य-जाति के धार्मिक, भ्रातृत्व, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में कई प्रकार की कुरीतियों को दूर करने के लिए कई लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी कीं । सारा भारत घूमे, हिमालय पर्वत तक पहुँचे । भारत से बाहर अरब, फारस, अफगानिस्तान में भी गए । कहीं भी कोई पूर्व परिचित न था कि सतिगुर जी के किसी गाँव या नगर में पहुँचने से पूर्व कोई श्रद्धालु किसी प्रकार की सभा का प्रबन्ध कर देता हो ; बड़ी कोई न कोई व्यक्ति उनके सुन्दर वाक्यों को लिखकर रखने के लिए घर से कागज़, कलम और दवात लेकर आता हो ।[3]

---

1 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 21

2 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 21-22

3 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 22

13. शब्दोच्चारण या गाना और बात है ; परन्तु उस उच्चरित या गाए हुए शब्द का उसी समय प्रत्येक अक्षर ठीक ठीक लिख लेना कोई आसान खेल नहीं । लिखने वाले से यह आशा रखनी भी बड़ी असम्भव सी बात है कि वे गुरु नानकदेव जी के प्रत्येक शब्द की प्रत्येक मात्रा और प्रत्येक अक्षर को शुद्ध लिखना अपना धर्म समझता होगा । स्मरण के लिए साधारण-तौर से लिख लेने और शुद्ध मात्राओं और अक्षरों का ध्यान रख कर लिख लेने में आकाश-पाताल का अन्तर है । आज कितने शिष्य हैं जो गुरु ग्रन्थसाहिब में से देखकर भी शुद्ध शब्द लिखते हैं या लिखने की चिंता करते हैं ।

14. यह मान लेना कि बड़ी-बड़ी गुरु नानकदेव जी गए, बड़ी-बड़ी किसी-न-किसी श्रद्धालु ने गुरु साहिब का उच्चरित शब्द लिखकर ऐसा संभाला कि दो चार पीढ़ियों तक उनके घरों में आदर-सत्कार के साथ टिका रहा ; असम्भव है । पीढ़ी के आकार वाली किसी पुस्तक को संभाल कर रखने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु किसी एक ही पृष्ठ पर लिखी हुई पाँच-दस पंक्तियों के एक-एक शब्द को बड़े ध्यानपूर्वक पीढ़ी-पीढ़ी तक सम्भाले रखना एक अनहोनी बात है । अपने और अपने आस-पड़ोस के घरों में झाँक कर देखिए ; कहीं एक-एक कागज संभाल कर रखने की अनोखी लगन दिखाई नहीं देगी ।[1]

15. तनिक और गम्भीरता से देखिए । यदि वास्तव में प्रत्येक स्थान पर श्रद्धालु शिष्यों ने ही गुरु नानकदेव जी और शेष तीन गुरु व्यक्तियों के शब्द लिख रखे थे तो सोचिए उन्होंने कैसे लिखे होंगे ? शब्द, अष्टपदियाँ, छंत, वारां, सिद्ध गोसटि, ओंकार, अनंद जैसी लम्बी-लम्बी बानियाँ क्या कुछ श्रद्धावान् शिष्यों ने ही लिख कर संभाले थीं ? क्या सतिगुरु जी उनको स्वयं लिखवाते जाते थे ? या वे अपने आप झाँक से लिख लेते थे ? श्रद्धावान् अपने-आप लिख लेते हों, या सतिगुरु जी लिखवाते हों, अंत में शुद्ध तो

---

1 आदि बीड़, पृष्ठ 22-23

करवा लेते होंगे । कैसी आश्चर्यजनक बात है कि गाँव-गाँव, नगर-नगर में श्रद्धालुओं को बड़े ध्यान से शुद्ध करके शब्द लिखवाते जाना और अपने पास कुछ न रखना, यह बात हास्यास्पद लगती है । परन्तु इस मान्यता में इसने यह बात भी मान ली है कि जहाँ कहीं गुरु नानकदेव जी या शेष तीनों गुरु-व्यक्तियों ने कोई शब्द उच्चारा, वहीं तुरन्त ही कोई-न-कोई श्रद्धालु बन गया । जिसके हृदय में गुरु का शब्द लिखकर रखने की इच्छा हुई ।[1]

इन सभी तर्कों से डॉ. साहब ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चूँकि गुरु नानकदेव जी ने अपनी वाणी स्वयं लिखी थी, इसीलिए वह सुरक्षित रह सकी । यही तर्क इस मन्तव्य का दुर्बल आधार है । केवल वही वाङ्मय या वाणी सुरक्षित नहीं रहती जो लिपिबद्ध हो गई हो । वरन् वह वाणी भी सुरक्षित रहती है जो जन-जन के कण्ठ में विराज गई हो । हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुति के आधार पर भी वाणी कुछ ही वर्षों तक नहीं, सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह सकती है । भारतीय वाङ्मय के आदिग्रन्थ वेद इस कथन के प्रबल प्रमाण हैं । वेदों की वाणियाँ दीर्घकाल तक श्रुति-परम्परा के आधार पर ही अपना अस्तित्व बनाए रह सकीं । इसीलिए तो वेदों को 'श्रुति' भी कहा जाता है । अतः गुरु नानकदेव की वाणी लिपिबद्ध होकर ही सुरक्षित रही हो, यह आवश्यक नहीं । वेद-वाणी की भाँति वह भी श्रुति के आधार पर सुरक्षित रह सकती है ।

इसी प्रसंग में डॉ. साहिब के इन दो तर्कों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । पहला तर्क है कि गुरु नानकदेव सदैव संगीतमय ही शिक्षा नहीं देते थे और दूसरा तर्क है कि गुरुग्रन्थसाहिब में असमान रूप से इनकी सभी वाणियाँ । जहाँ तक पहले तर्क का सम्बन्ध है, यह हमारे इस मन्तव्य की ही

---

1. आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 23-24

पुष्टि करता है कि गुरू नानकदेव जी ने स्वयं अपनी वाणियाँ लिपिबद्ध नहीं कीं, वरन् वे बाद में श्रुति के आधार पर संकलित हुईं । हम इस मत से सहमत हैं कि वे सदैव संगीतमय ही शिक्षा नहीं देते थे, बल्कि कभी-कभी अपने कथन की पुष्टि करने के लिए वे गद्य के द्वारा भी लोगों को समझाते होंगे । गद्य श्रुति के आधार पर जीवित नहीं रह सकता, अतः इनकी जो वाणियाँ गद्यमयी थीं, वे लुप्त हो गईं । यदि वे स्वयं अपनी वाणियों को लिपिबद्ध करते तो यह भी सम्भव था कि कहीं-कहीं उसी प्रकार गद्य का प्रयोग भी मिल जाता, जिस प्रकार वे अपने उपदेशों में व्यवहृत करते होंगे ।

दूसरा तर्क भी श्रुति के आधार पर सहज रूप से ही खंडित हो जाता है, क्योंकि मनुष्य लम्बी से लम्बी कविता और बड़ी से बड़ी पुस्तक को भी श्रुति के आधार पर कंठस्थ कर लेता है । इसलिए गुरू नानकदेव की उन लम्बी वाणियों का, जिनका प्रो. साहिब ने उल्लेख किया है, कंठस्थ हो जाना अस्वाभाविक नहीं है । यहीं पर यह कहना भी अनुचित न होगा कि आज भी ऐसे अनेक निरक्षर सिख-भक्त मिल सकते हैं जो नियमित रूप से कीर्तन में जाते हैं और जिन्हें एक ही गुरू की नहीं, कई गुरुओं की वाणियाँ कंठस्थ होंगी ।

अब इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या गुरू नानकदेव के मन में अपनी वाणियों के संग्रह की प्रेरणा जगी होगी ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए मनोविज्ञान का सहारा आवश्यक है । यदि यह माना जाए कि गुरू के मन में लोक-कल्याण के निमित्त अपनी वाणियों के संग्रह की प्रेरणा जगी, तो क्या इस प्रेरणा के पीछे निहित उनके 'अहं' की अभिव्यक्ति नहीं होती ? जो महापुरुष जीवन-भर 'अहं' को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु घोषित

करता रहा हो,[1] क्या वह भी अंत में इसी 'अहं' से ग्रस्त हो गया था ? फिर, यह भी विश्वास नहीं होता कि गुरु नानकदेव स्वयं ही अपनी वाणियों को लोक-कल्याण का सोपान मान बैठे हों । वास्तविकता तो यह है कि ये लोक-कल्याण की भावना को मनुष्य के अधिकार से बाहर ही मानते हैं । इन्होंने स्पष्ट कहा है कि लोक-कल्याण की चिंता तो उसी परमात्मा को रहती है जिसने इस संसार का सृजन किया है ।[2] ये मूलतः संत थे, जो कुछ भी ये कहते थे उसके पीछे लोक-कल्याण की प्रेरणा नहीं होती थी, वरन् सत्य का आग्रह होता था । इनके सत्य को श्रोता लोक-कल्याण की भावना मानते हैं । दोनों ही ठीक हैं, क्योंकि सत्य की परिणति लोक-कल्याण की भावना ही है । अतः ये सत्य से प्रेरित होकर किसी कार्य को करने के लिए कटिबद्ध हों, यह बात तो समझ में आती है, पर लोक-कल्याण की भावना, जो श्रोताओं द्वारा इनके सत्य का गृहीत रूप है, यह कभी इनके मन में आई हो, यह विश्वासगम्य नहीं है ।

निष्कर्ष यह है कि गुरु नानकदेव के मन में कभी भी अपनी वाणियों को लिपिबद्ध करने की और उनके द्वारा लोक-कल्याण होने की भावना नहीं जगी

---

1 इउ विच भाइआ इउ विचि छाइआ
इउमै करि करि जंत उपाइआ ।
इउमै दुखै ता दरु सुझै
गिआन विहूणा कथि कथि लुझै ॥ १ ॥
— आसा दी वार — पृष्ठ 466

2 नानक जंत उपाइ कै संभाले सभनाह
जिन करते करणा कीआ चिंता भि करणी ताह ।
सो करता चिंता करै जिनि उपाइआ जगु ॥ १ ॥
— आसा दी वार, पृष्ठ 467

थी । इन्होंने अपनी वाणियों को लिपिबद्ध किया भी नहीं । अपने जीवन के अन्तिम वरस में ये करतारपुर में आकर रहने लगे थे । वहीं एक संगत की स्थापना हुई जो प्रतिदिन इनकी वाणियों का भी गा-गाकर कीर्तन करती थी । सैंकड़ों श्रोता उस कीर्तन में सम्मिलित होते थे । प्रतिदिन गाते-गाते और सुनते-सुनते गायक और श्रोताओं को ये सभी वाणियां कंठस्थ हो गई थीं । जब द्वितीय गुरु अंगददेव ने इनकी वाणियों को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया तो उन्हें सहज ही ऐसे अनेक सिख मिल गए जिन्हें इनकी लगभग सभी वाणियां पूर्णतः कंठस्थ थीं । उन्होंने से सुनकर इन्होंने गुरु नानकदेव की वाणियों को लिपिबद्ध कर लिया ।

डो. साहिब सिंह की दूसरी प्रमुख मान्यता यह है कि बाबा मोहन के पास पोथियां नहीं थीं । इस मन्तव्य को पुष्ट करने के लिए इन्होंने जो तर्क दिये हैं वे इस प्रकार हैं —

1. गुरु रामदास की वाणी ने सिद्ध किया है कि गुरुबाणी उनके पास उपस्थित थी । इसलिए बाबा मोहन के पास पोथियां होना सम्भव नहीं है ।

---

1 (क) गुरु नानकदेव की रचनाओं को उनकी मृत्यु से छः वर्ष पूर्व सं. 1589 में सर्वप्रथम गुरु अंगददेव ने गुरुमुखी लिपि में लिखना प्रारम्भ किया था । उससे पहले वह लोगों के कंठों में विराजती थी ।
— हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ 161

(ख) 'जन्मसाखी तैयार करवाने के पश्चात् गुरु अंगददेव जी ने गुरु नानक देव की रचनाओं, जो सिखों की बहुमूल्य धार्मिक सम्पत्ति थी, को सुरक्षित करने की ओर ध्यान दिया । अतः गुरु अंगददेव जी ने गुरु नानकदेव के शब्दों को एकत्र करके उनको लिपिबद्ध करके एक पोथी में संकलित करवा दिया ।
— पंजाब का इतिहास - गोविन्दर सिंह पृथीपाल सिंह, पृ. 73

2. 'मोहन तेरे ऊँचे मन्दिर महल अपारा' आदि शब्द सतगुरु स्तुति में गाया गया है ।

3. जिस मोहन को गुरु-गद्दी न दी गई, उसे वाणी क्योंकर दी गई होगी ? यदि किसी प्रकार उसने प्राप्त भी कर ली हो तो वह फिर क्यों लौटाने लगा ?

4. बाबा मोहन के पास जो पोथियाँ बताई जाती हैं, उनमें वाणी बहुत ही कम है । उन दो पोथियों के सहारे इतने विशालकाय गुरुग्रन्थसाहिब की बीड़ का तैयार हो जाना असम्भव है ।

इसमें सन्देह नहीं कि 'मोहन तेरे ऊँचे मन्दिर महल अपारा' आदि शब्द सतगुरु की स्तुति का सूचक है । आदिग्रन्थ में कहीं भी किसी भी मनुष्य की प्रशंसा नहीं है । इसलिए बाबा मोहन की प्रशंसा होना, चाहे वे कितने ही सिद्ध पुरुष रहे हों,[1] नितान्त असम्भव है । गुरुशब्दरत्नाकरकार आदि

---

1 (क) बाबा मोहन साधक ही नहीं, सिद्ध पुरुष थे । उनके अन्तर्गत अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति थी । वे रात दिन परमात्मा के ध्यान में निमग्न रहा करते थे । ऐसे ही भक्तों एवं उपासकों के लिए गुरुवाणी में कहा गया है कि भक्त एवं भगवान एक हैं । यथा —

" नानक हरिजन हरि एक है हरि जपि हरि सेती रलिआ। "

(वडहंसु, महला 4, पृष्ठ 562)

(ख) "सो हरि जनु जैसा हरि हरि जनु इक समानि "

— रागु सोरठि सलोक महला 4, पृष्ठ 652

इसलिए बाबा मोहन की स्तुति चाटुकारिता नहीं प्रतीत होती, बल्कि ठीक ही है ।

— श्री गुरुग्रन्थसाहिबदर्शन - डा. जयराम मिश्र, पृष्ठ 20-21

धार्मिक इतिहासकारों ने 'मोहन' शब्द देखकर ही इसके भ्रान्ति से बाबा मोहन की स्तुति मान लिया है । यदि यह वास्तव में बाबा मोहन की स्तुति का छंद होता तो गुरु अर्जुनदेव इसे आदिग्रन्थ में संकलित नहीं करते । जिस ग्रन्थ में स्वयं गुरुओं की स्तुति नहीं है, जिनकी वाणी ब्रह्मवाणी मानी गई है, उसमें बाबा मोहन जैसे व्यक्ति की स्तुति आना किसी भी दृष्टिकोण से युक्तियुक्त सिद्ध नहीं हो सकती । यह 'छंत' स्पष्टतया आध्यात्मिक है ।

गुरु रामदास के पास वाणियों का होना यह सिद्ध नहीं करता कि बाबा मोहन के पास भी वाणियाँ न हों । सम्भावना यह है कि गुरु-गद्दी न मिलने के कारण निश्चय ही बाबा मोहन ने गुरु-वाणियों को अपने अधिकार में कर लिया होगा, क्योंकि उस समय गुरुवाणियाँ ही गुरु-गद्दी की सबसे बड़ी सम्पत्ति थीं । अब प्रश्न यह है कि यदि गुरुवाणियाँ बाबा मोहन के पास थीं तो गुरु रामदास ने उन्हीं के आधार पर अपनी वाणियों का सृजन किस प्रकार किया, क्योंकि पहले तीन गुरुओं की वाणियों से तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु रामदास के पास वे वाणियाँ भी होनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गुरु रामदास लगभग 21-22 वर्ष तक गुरु अमरदास के पास रहे थे ।[1] नित्यप्रति कीर्तनों में सक्रिय भाग लेने के कारण इन्हें वे सब वाणियाँ पूर्ण रूप से कण्ठस्थ हो गई थीं । अतः उनका गम्भीर प्रभाव इनकी वाणियों पर होना स्वाभाविक है ।

यह कहना भी तर्क-संगत नहीं कि बाबा मोहन को गुरु-गद्दी न मिलने के कारण वाणियाँ भी न मिली हों । वाणियों के संकलन में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है,[2] अतः इन्हें वाणियों को हस्तगत करने में किसी प्रकार की

---

1 श्री गुरुग्रन्थसाहिब जी का साहित्यिक इतिहास : पृष्ठ 359

2 मोहन तुम धन महला, वाणी कीनस इक थाना ।
— गुरुप्रकाश, पृष्ठ 625

कठिनाई न होना भी असम्भव नहीं है । गुरू अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते भी इन्हें सरलता से वाणियों का मिल जाना सम्भव है । जहाँ तक उन्हें न लौटाने का प्रश्न है, निश्चय ही ये इस बात के लिए कटिबद्ध भी थे । इसी कारण भाई गुरदास और बाबा बुड्ढा को इनके दुवार से निराश होकर लौटना पड़ा ।[1] मनुष्य का हृदय मनुष्य का हृदय ही होता है । इसमें संकल्प की दृढ़ता के साथ-साथ द्रवता भी होती है । गुरू अर्जुनदेव के महान् व्यक्तित्व एवं विनम्र नम्रता ने इन्हें द्रवित कर दिया था, इस विषय में तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं है । उनके अपूर्व प्रभाव को इन्होंने भी तो स्वीकार किया है ।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि इनके पास जो गुरूवाणियाँ थीं, उनसे ही प्रस्तुत विशालकाय आदिग्रन्थ नहीं बन सकता था । गुरू अर्जुनदेव ने उन वाणियों के अतिरिक्त भी अपने निजी श्रम से और भी अनेक वाणियों का अन्वेषण किया ।[3]

दूसरे वर्ग की यह मान्यता कि गुरू अर्जुनदेव को वाणियाँ गुरू-गद्दी से ही प्राप्त हुई, उपर्युक्त तर्कों से ही खंडित हो जाती है । केवल एक गुरू (गुरू रामदास) की वाणी ही इन्हें गुरू-गद्दी के साथ मिली है, शेष तीन गुरुओं की कुछ वाणियाँ इन्हें बाबा मोहन से प्राप्त हुई हैं और कुछ इन्होंने अपने

---

1 (क) गुरू विलास पातसाही 6, — कवि मोहन, पृष्ठ 53
(ख) गुरूसर प्रकाश, भाग 2, पृष्ठ 620-621
(ग) हिस्ट्री आव सिक्खज़, तेजासिंह (प्रिंसिपल), पृष्ठ 30
(घ) प्रतापसिंह — गुरमत लेक्चर, पृष्ठ 180
(ङ) मैकालिफ़ सिख रिलीजन, भाग 3, पृष्ठ 55

2 " यह अरविंदन पर सिर धरयो । नहीं उठावन को पुन कर्यो ॥"
— गुरूसूरप्रकाश, पृष्ठ 624

3 गुरूसूरप्रकाश, पृष्ठ 619

प्रयत्नों से उपलब्ध की है ।

गुरु-वाणियों की भाँति भक्त-वाणियों के प्राप्ति-स्रोत भी विवादास्पद हैं । इस विषय में अनेक मत हैं, जिनमें से प्रमुख मतों की समीक्षा प्रस्तुत करना ही उचित होगा । सूरजप्रकाशकार का मत है कि गुरु अर्जुनदेव ने भक्त-आत्माओं का आह्वान किया और उनसे उनकी वाणियाँ लिखी ।[1] सूरज-प्रकाश धार्मिक इतिहास है जिसमें धार्मिक अन्धविश्वासों का आ जाना सहज स्वाभाविक है । यह मत भी इसी प्रवृत्ति की परिणति है । इसका औचित्य अन्धविश्वास के द्वारा भले ही सिद्ध किया जा सके, किन्तु न तो यह तर्क-संगत है और न विवेचनीय ही । अतः इसपर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है ।

भक्त-वाणी की भूमिका में पंडित तारासिंह ने लिखा है कि गुरु अर्जुनदेव ने स्वतः ही भक्तों की नाम से वाणियाँ लिख दीं ।[2] यह मत भी तर्क-संगत नहीं है । इसका प्रमुख कारण तो यह है कि दूसरों के नाम से कविता करना एक प्रकार का धोखा और अज्ञान का प्रचार करना है । गुरु अर्जुनदेव जैसे महान् व्यक्ति से इस प्रकार के धोखे की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से नहीं की जा सकती । आदिग्रन्थ का संकलन भी इन्होंने मुलतः अज्ञानान्धकार को मिटाने के लिए और ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण करने के लिए किया है । यदि इन वाणियों को स्वयं गुरु अर्जुनदेव द्वारा लिखित मान लिया जाए तो आदिग्रन्थ के सम्पादन का मूल-प्रयोजन और उसकी महत्ता ही समाप्त हो जाती है । दूसरा कारण यह है कि गुरु अर्जुनदेव ने जब स्वयं अपनी वाणी का संकलन आदिग्रन्थ में किया है और वह भी सर्वाधिक मात्रा में है, फिर अपनी ही वाणी को दूसरों के नामों से प्रस्तुत करने का कोई भी तर्क-संगत कारण दृष्टिगोचर नहीं होता । यह सच है कि साहित्य में अनेक ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हें लोगों ने स्वयं रचकर दूसरों के

---

1 सूरजप्रकाश, 3, अंश 42

2 पंडित तारासिंह : भगत वाणी, भूमिका

नामों से प्रस्तुत कर दिया है । पर यही लेखक की अपेक्षा उस व्यक्ति का व्यक्तित्व, जिसके नाम पर यह रचना प्रस्तुत की गई है, अधिक महान् एवं विख्यात है । आदिग्रन्थ की भक्त-वाणियों के विषय में यह सम्भावना भी मान्य नहीं है, क्योंकि इन भक्तों की अपेक्षा गुरु अर्जुनदेव का महत्व एवं स्थान असन्दिग्ध रूप से अत्यधिक उच्च है । अतः यह मत भी मान्य नहीं है ।

मैकालिफ और डॉ. हेरसिंह की मान्यता यह है कि गुरु अर्जुनदेव ने भक्त-शिष्यों को बुलाया और उनसे उनकी वाणियाँ ग्रहण कीं ।[1] यह मत निस्सन्देह मान्य और तर्क-संगत है । गुरु अर्जुनदेव के समय तक भक्तों की वाणियाँ श्रुति-परम्परा से अधिक प्रचलित थीं । जब भी और जिस भी भक्त की वाणी के लिए उन्हें आवश्यकता पड़ी होगी, तभी उन्हें उनके ऐसे शिष्य भी सरलतापूर्वक मिल गए होंगे, जिन्हें अपने गुरु की या साथ-साथ और भी भक्तों की वाणियाँ कण्ठस्थ होंगी । निश्चित रूप से गुरु अर्जुनदेव ने कुछ वाणियाँ भक्त-शिष्यों के माध्यम से ग्रहण की होंगी । इस मत की यदि कोई दुर्बलता है तो यह यही है कि इन्होंने सभी भक्त वाणियों को गुरु अर्जुनदेव द्वारा ही संकलित मान लिया है । वस्तुतः कुछ भक्त वाणियाँ तृतीय गुरु ने भी संकलित की थीं, जो गुरु अर्जुनदेव को गुरु-वाणियों के साथ मिल गई थीं ।

श्री प्रतापसिंह, श्री हरिहरसिंह रस और ज्ञानी ज्ञानसिंह का मत है कि मोहन से तथा अन्य पोथियों से गुरु अर्जुनदेव ने भक्त-वाणियाँ प्राप्त कीं ।[2] निश्चित रूप से यह मन्तव्य स्वीकार्य है, पर इसकी अस्पष्टता "अन्य पोथियों" के कारण है । प्रकारान्तर से यही मन्तव्य डा. मोहनसिंह[3] का भी है —

---

1 (क) सिख रिलीजन – परिचय, पृष्ठ 25
(ख) हिस्टारफी आफ सिखिज़्म, पृष्ठ 56

2 (क) भक्त बानी – प्रताप सिंह, पृष्ठ 6
(ख) भाई गुरदास – श्री हरिहर सिंह रस – पृष्ठ 16
(ग) तवारीख गुरुखालसा भाग 1, नम्बर 2, पृष्ठ 736

3 इतिहास (पंजाबी भाषा में), पृष्ठ 26

"बहुत सी गुरु अमरदास ने तथा कुछ अर्जुनदेव ने स्वतः एकत्र की ।"

प्रो. साहिब सिंह का मत है कि सम्पूर्ण भक्त वाणी अपनी यात्राओं के समय गुरु नानकदेव ने ही एकत्र की ।[1] यह मंतव्य भी आंशिक रूप से ही सत्य है, पूर्णतया नहीं । स्वयं प्रोफैसर साहब ने अपने इतविषयक विवेचन में चार भक्तों - फरीद, बेणी, रविदास और नामदेव - की वाणियों का ही उल्लेख किया है ।

स्पष्ट है कि इन मतों में पहले दो मतों को छोड़कर शेष सत्य तो हैं, किन्तु किसी भी एक मत को सम्पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता, वरन् सभी मिलकर पूर्ण सत्य का उद्घाटन करते हैं - आदिग्रन्थ का सम्पादन करते समय गुरु अर्जुनदेव को कुछ भक्त-वाणियाँ बाबा मोहन वाली पोथियों से प्राप्त हो गई थीं । कुछ भक्त-वाणियाँ उन्होंने अपने प्रयास से भक्त-शिष्यों से श्रुति या लिपि के माध्यम से प्राप्त की थीं । जहाँतक गुरु नानक द्वारा एकत्र भक्त-वाणियों का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि गुरु नानक ने कीर्तन की वाणियों में कुछ भक्त-वाणियों को भी सम्मिलित कर लिया था, जो उनकी वाणियों की भाँति श्रुति से या लिपिबद्ध होकर गुरु अमरदास को प्राप्त हुई ।

इस विषय में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कितनी भक्त-वाणियाँ गुरु नानक के कीर्तन में सम्मिलित हो गई थीं, कितनी गुरु अमरदास ने संकलित कीं, और कितनी गुरु अर्जुनदेव ने संगृहीत कीं ? प्रो. साहिब सिंह ने इस विषय में विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि फरीद, बेणी, रविदास और नामदेव इन चारों भक्तों की वाणी गुरु अमरदास से भी पहले गुरु नानक के पास थी । बाबा मोहन से जो पोथियाँ मिलीं उनमें कबीर,

---

1 आदि बीड़ बारे, पृष्ठ 108

नामदेव, त्रिलोचन, सैन, रविदास और जयदेव की वाणियाँ मिलती हैं।[1] इससे सिद्ध होता है कि कबीर, त्रिलोचन, सैन और नामदेव की वाणियों का संग्रह तीसरे गुरू अमरदास ने किया। यहाँ पर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि इन पोथियों में फरीद और बेणी की वाणियाँ क्यों नहीं मिलती। इस विषय में यह सम्भावना की जा सकती है कि तीसरे गुरू ने आदिग्रन्थ की जिन वाणियों को लिपिबद्ध करवाया था, उनमें इन भक्तों की वाणियाँ लिपिबद्ध होने से पूर्व ही बाबा मोहन ने उन पोथियों को अपने अधिकार में कर लिया हो या पोथियों को अधिकार में करते समय इनकी वाणियाँ किसी प्रकार से बाबा मोहन से छूट गई हैं। गुरू नानकदेव ने अपनी वाणी के साथ भक्तवाणियों को सम्मिलित करके जिस धार्मिक उदारता का परिचय दिया था, वह गुरू अर्जुनदेव में पूर्ण रूप से विकसित हुई।

कहने का भाव यह है कि गुरू अर्जुनदेव को कुछ वाणियाँ तो गुरू-गद्दी-परम्परा से मिलीं, कुछ बाबा मोहन से ले गई पोथियों से मिलीं और कुछ का उन्होंने अपने प्रयत्नों से, विशेषतः श्रुति-परम्परा से, संग्रह किया।

यहीं पर इस प्रश्न का समाधान कर लेना भी आवश्यक है कि आदिग्रन्थ का सम्पादन कब हुआ? इस प्रश्न का उत्तर केवल बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही दिया जा सकता है। क्योंकि अन्तः साक्ष्य इस विषय में बिल्कुल मौन है। गुरू सूरजप्रकाशकार के अनुसार यह कार्य सम्वत् 1661 भादों सुदी एकम को पूर्ण हुआ और तत्पश्चात् अमृतसर के हरिमंदिर में भाई बुड्ढा जी ग्रन्थी नियुक्त कर इसका प्रकाश किया गया।[2] वंशावली नामा के अनुसार, संवत् 1648 में 22 हाड़ के दिन गंगा को व्याह कर

---

1 ए क्रिटीकल स्टडी आफ आदिग्रन्थ, पृष्ठ 11

2 गुरू सूरजप्रकाश : संतोख सिंह, पृष्ठ 2140

गुरु घर आए थे और इस विवाह के बाद श्री सरस्वती देवी के वरदान से चार लिखारियों से गुरु अर्जुनदेव ने सब दूसरों की वाणी लिखवाई। इस प्रकार संवत् 1646 भाद्र से लेकर संवत् 1658 तक 11 वर्ष तक गुरु अर्जुनदेव ने भाई गुरदास की देखरेख में भाई संतदास, हरिया, सुखा और मनसाराम को वाणी लिखवाई और उसे क्रमबद्ध किया। तत्पश्चात् भाई गुरदास से इसे लिखवाकर अंतिम रूप दिया। इस कार्य में तीन वर्ष लगे। इस प्रकार इस ग्रन्थ के निर्माण में चौदह वर्षों का समय लगा।[1]

सम्पादन-कला

आदिग्रन्थ के प्रस्तुत रूप को देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इसमें गुरु अर्जुनदेव की सम्पादन-कला अपने पूर्ण रूप से मुखरित है। गुरु अर्जुनदेव ने अनेक भक्तों और भाटों की वाणियों को सम्मिलित करके सिख-धर्म की धार्मिक उदारता की असीमता को तो व्यक्त किया ही है, इन वाणियों का सम्पादन एवं संयोजन करके ग्रन्थ की गरिमा और उद्देश्य को अनुपम एवं सहज ग्राह्य बना दिया है। इनकी सम्पादन-कला की समीक्षा करने के लिए इन शीर्षकों पर विचार करना आवश्यक है — वाणियों का क्रम और भाषा का रूप।

वाणियों का क्रम — आदिग्रन्थ की वाणियाँ किसी निश्चित क्रम से आबद्ध हैं, अथवा नहीं? यह प्रश्न महत्वपूर्ण भी है और विवादास्पद भी। डा. ट्रम्प का मत है कि इन वाणियों का वर्गीकरण तथा नियम-निर्धारण किसी

---

1. बसवली नामा : पाँचवाँ तथा चौदहवाँ वरण

विशेष-नियम से आबद्ध नहीं है ।[1] फ्रेडरिक पिनकट ने इन वाणियों का क्रम संगीत माना है ।[2] मैक्लिफ ने भी इकारान्तर से यही मत व्यक्त किया है, अर्थात् इनके अनुसार ग्रन्थ में पदों का क्रम रागानुकूल है ।[3] डा. शेरसिंह ने भी संगीत को ही वाणी-क्रम का आधार स्वीकार किया है।[4] डा. धर्मपाल मैनी ने आदिग्रन्थ को देही कल्पित करके इसके तीन भाग किये हैं — शिरभाग, देहभाग, और अधोभाग । शिरभाग की वाणी का आधार है विचार एवं भाव, देहभाग का संगीत एवं राग, तथा अधोभाग में भाषा एवं अभिव्यक्ति (शैली) का महत्वपूर्ण स्थान है ।[5]

किसी वस्तु-निर्माण में उसके प्रयोजन का विशेष महत्व होता है, अतः यदि हम गुरुग्रन्थसाहिब के संकलन के प्रयोजन पर विचार करें तो यह सिद्ध ही है कि इसका सम्पादन गुरुवाणियों की सुरक्षा के लिए और कीर्तन के द्वारा इन्हें प्रसारित करने के लिए ही हुआ है । संगीत इनके प्रसारण का मुख्य आधार रहा है । अतः निश्चित है कि वाणियों के क्रम का निर्धारण करते समय गुरु अर्जुनदेव का ध्यान राग-योजना पर ही आधारित था । इसलिए कहा जा सकता है कि वाणियों के क्रम का मुल आधार संगीत है । यहाँ पर इस प्रश्न का भी उठना स्वाभाविक है कि जो वाणियाँ रागबद्ध नहीं हैं, उनके क्रम-निर्धारण में भी सम्पादक की कोई योजना निहित थी ? ऐसी वाणियाँ ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत में मिलती हैं । प्रारम्भ में जो वाणियाँ दी गई हैं उनमें विचारों का प्राधान्य है । इसीलिए उनमें राग होते हुए भी न तो

---

1 आदिग्रन्थ : भूमिका : पृष्ठ xx

2 अरेंजमेंट आफ आदिग्रन्थ : जे. आर ए. एस. : पृष्ठ x ii।

3 सिख रिलीजन : भाग 3, पृष्ठ 61

4 फिलासफी आफ सिखिज़्म, पृष्ठ 52

5 श्री गुरुग्रन्थसाहिब एक परिचय : पृष्ठ 38

रागों पर विशेष बल है और न गुरु-वाणियों के क्रम-क्रम पर ही, जैसाकि रागबद्ध वाणियों में देखा जाता है । इन वाणियों का विचार-प्रधान होना इसलिए भी आवश्यक था, क्योंकि इनमें उस मूलमंत्र की व्याख्या है जो सिख-धर्म का मूलाधार और प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का भी प्रमुख आधार है । ग्रन्थ के अन्त में जो वाणियाँ दी गई हैं, उनमें उस भाषा का प्रयोग है जो न तो ग्रन्थ के शेष भाग की भाषा से मेल खाती है और न जनसाधारण ही की भाषा कही जा सकती है । यह योजना भाषा के प्रति सम्पादक के उदार विचारों की परिचायिका है । एकता के लिए जहाँ धार्मिक सिद्धान्तों का समन्वय आवश्यक है, वहाँ भाषा का समन्वय भी अनिवार्य है । इसी दृष्टि इन वाणियों का संकलन किया गया है । फलतः आदिग्रन्थ की संकलित वाणियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - विचार-प्रधान वाणियाँ ; रागबद्ध-वाणियाँ और भाषा-प्रधान वाणियाँ ।

विचार-प्रधान वाणियाँ

विचार-प्रधान वाणियों को मूलमंत्र, जपु, सोदरु, सोपुरखु तथा सोहिला में वर्गीकृत किया गया है । मूलमंत्र है —

" । ओ सति नामु करता पुरखु निरभउ
निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि ॥

यही मूलमंत्र, जो प्रथम गुरु द्वारा उच्चरित है, सिख-धर्म का मूलाधार है । इसमें ब्रह्म के स्वरूप का और उसकी प्राप्ति के साधन का उल्लेख है जिनका ज्ञान होना जीवन का परम पुरुषार्थ है । इस प्रकार इस मूलमंत्र के द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष स्पष्ट है —

१. ऐसे विलक्षण गुणों से युक्त ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान ही मनुष्य के जीवन का मरुद्देश्य है, क्योंकि इसी ज्ञान से वह भव-बाधाओं से

से मुक्त हो सकता है । यही ज्ञान भगवत्-साक्षात्कार का कारण है ।

3. ऐसे ब्रह्म का ज्ञान और उसकी प्राप्ति गुरु-कृपा से ही सम्भव है । यह मूलमंत्र आध्यात्मिक पथ के तीन सोपानों का निर्देशक है । यही मानव-जीवन का लक्ष्य है । फलतः आदि ग्रन्थ में इस मूलमंत्र का तीन रूपों में अनेक बार प्रयोग हुआ है - पूर्ण रूप में 3 बार 'एक ओं सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि' इस संक्षिप्त रूप में आठ बार तथा 'एक ओं सतिगुरु प्रसादि' इस संक्षिप्ततम रूप में 525 बार । ये प्रयोग मानव-मन को बार-बार संकेत करने के लिए किए गए हैं । मूल-मंत्र की ये आवृत्तियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, और गुरु अर्जुनदेव की मनोवैज्ञानिकता और सम्पादन-कला की पूर्णता की परिचायिका हैं ।

यद्यपि शाब्दिक दृष्टि से इस मूलमंत्र की महत्ता असंदिग्ध है, और इसको सर्वप्रथम स्थान मिलना अनिवार्य है, तथापि गुरु अर्जुनदेव की संपादन-कला की समीक्षा के लिए इस पर अन्य दृष्टियों से भी विचार करना अनुचित नहीं होगा । किसी भी कृति के लिए काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अनुबंध-चतुष्टय और मंगलाचरण की योजना आवश्यक है । अनुबंध चतुष्टय के अन्तर्गत अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चार तत्वों का समावेश होता है । उपर्युक्त मूलमंत्र को यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि ज्ञात इसके अधिकारी हैं, भगवत्तत्व का ज्ञान इसका विषय है और इस विषय का ज्ञान कराना इसका प्रयोजन है । प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयोजन और विषय में उचित सम्बन्ध भी है ।

किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में विघ्नविनाशाय मंगलाचरण की परम्परा भारतीय संस्कृति की प्रमुखतम विशेषता है और भारतीय मनीषियों ने इसका पूर्णतया पालन भी किया है । मंगलाचरण मुख्यतया तीन प्रकार का होता है - आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक । प्रस्तुत मूलमंत्र को

वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण मान सकता है, क्योंकि इसमें ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का, भगवत्स्वरूप का, निर्देश है ।

2. जपु - भक्ति-मार्ग में नाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है । नाम-स्मरण भक्ति-सिद्धान्त का प्रमुख अंग है । भगवान् के गुणों का अहर्निश स्मरण ही नाम-स्मरण कहलाता है । प्रस्तुत वाणी में नाम-स्मरण की ही प्रमुखता है । इसमें अट्ठाईस पौड़ियाँ और एक श्लोक है । यह वाणी आदिग्रन्थ का प्रवेश द्वार है । इसमें आदिग्रन्थ का सार तत्त्व कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा ।

3. सोदरु - 'सोदरु' का अर्थ है 'बड़ा द्वार' अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रमुख सोपान । जिस प्रकार किसी भी भवन में प्रवेश करने के लिए द्वार से प्रवेश करना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उसके अनंत एवं विविध गुणों का ज्ञान परमावश्यक है । इस वाणी में केवल पाँच पद हैं जिनमें से प्रथम तीन गुरु नानक के, एक गुरु रामदास का और एक गुरु अर्जुनदेव का है । इन पदों में ब्रह्म से विविध गुणों का एवं शक्तियों का वर्णन है ।

4. सो पुरख - 'सो पुरख' का अर्थ है - बड़ा पुरुष, अर्थात् केवल ब्रह्म ही पुरुष है । इसमें चार पद हैं । जिनमें से दो गुरु रामदास के, एक गुरु नानकदेव का और एक गुरु अर्जुनदेव का है । इसमें भी परमात्मा के विविध गुणों का वर्णन है ।

5. सोहिला - 'सोहिला' का अर्थ है यज्ञ । इस शीर्षक के अन्तर्गत संगृहीत पदों में ब्रह्म का यज्ञोगान किया गया है । ब्रह्म का यज्ञोगान भी भक्ति-मार्ग का एक प्रमुख सिद्धान्त है । इस शीर्षक के अन्तर्गत गुरु नानकदेव के तीन पद, गुरु रामदास का एक पद और गुरु अर्जुनदेव का एक पद संकलित है ।

इन वाणियों का सिख-धर्म में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है । इसीलिए प्रतिदिन इनका जाप किया जाता है ।

सम्बोधन-कला की दृष्टि से भी इन वाणियों का विशेष महत्व है । इनमें मुख्यतम ब्रह्म के विविध रूपों का वर्णन है जो ब्रह्म-प्राप्ति के प्रथम सोपान कहे जा सकते हैं । इस प्रकार यदि इन वाणियों को आदिग्रन्थ का 'विषय प्रवेश' माना जाय तो अनुचित न होगा । 'जपु' को छोड़कर शेष तीनों वाणियों का नामकरण भी गुरु अर्जुनदेव ने ही किया है । नामकरण के आधार प्रत्येक वाणी के प्रथम पद में आए हुए शब्द हैं —

१. सोचै तेरा केता सोचै केता जितु वडि सरब समाले ।"[1]

२. सोपुरखु निरंजन हरि पुरखु निरंजन हरि अगमा अगम अपारा "[2]

३. वे हरि कीरति आखि करते का होइ विचारो ॥
तितु धरु गावहु सोहिला सिवरिहु सिरजन हारो ।"[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सोचै और सोपुरखु प्रथम पद के प्रथम शब्द हैं । आधुनिक काल में नामकरण की यह विधा पर्याप्त प्रचलित है और आधुनिकतम या नवीनतम मानी जाती है । गुरु अर्जुनदेव ने आज से लगभग चारसौ वर्ष पूर्व इस विधा को अपनाकर अपनी सम्बोधन-कला की गहन गम्भीरता का परिचय दिया है । यहीं पर यह बता देना भी आवश्यक है कि किसी भी साहित्यिक कृति अथवा कविता आदि का नामकरण निरर्थक नहीं होता, उसका उसमें वर्णित विषय से सम्बन्ध होना चाहिए, शीर्षक को देखकर ही उसके प्रतिपाद्य का आभास हो जाना चाहिए, यही नामकरण की सार्थकता है । यदि इस दृष्टि से भी इन शीर्षकों की समीक्षा की जाए तो ये अत्यंत उपयुक्त सिद्ध होते हैं ।

---

१ श्री गुरुग्रन्थसाहिब, पृष्ठ ८
२ वही, पृष्ठ १०
३ वही, पृष्ठ १२

रागबद्ध बानियाँ

पहले बताया जा चुका है कि गुरुबानियों का संकलन संगीत के माध्यम से प्रचार के लिए हुआ था, इसलिए गुरु अर्जुनदेव ने इस ग्रन्थ की अर्द्धशताधिक बानियों को ३१ रागों के अन्तर्गत संकलित किया है । ये हैं — सिरी राग, माझ राग, गउड़ी राग, आसा राग, गूजरी राग, देवगंधारी राग, बिहागड़ा राग, वडहंसु राग, सोरठि राग, धनासरी राग, जैतसरी राग, टोडी राग, बैराड़ी राग, तिलंग राग, सुही राग, बिलावलु राग, गोंड, रामकली राग, नाटनारायन राग, मालीगउड़ा राग, मारू राग, तुखारी राग, केदारा राग, भैरउ राग, बसंत राग, सारंग राग, मलार राग, कानड़ा राग, कल्यान राग, प्रभाती राग तथा जैजावंती राग । मुख्यतया इन रागों का प्रयोजन संगीतात्मकता है, किन्तु यदि राग से सम्बद्ध भाव की दृष्टि से इन रागों के क्रम पर, जिस क्रम से गुरु अर्जुनदेव ने इन्हें संकलित किया है, विचार किया जाय तो आध्यात्मिक सोपानों की एक क्रमिक झलक इनमें स्पष्ट दिखाई देती है जिसका परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है ।

आध्यात्मिक मार्ग या भक्ति-मार्ग के तीन सोपान निर्धारित किए जा सकते हैं —

१. संसार से वैराग्य होना ।
२. भगवदोन्मुख होना ।
३. अलौकिक आनन्द की अनुभूति करना ।

रागक्रम के द्वारा गुरु अर्जुनदेव ने आध्यात्मिक —पथ के जिन क्रमिक सोपानों की ओर संकेत किया है, उन्हें समझने से पूर्व रागों के उद्बोधक भावों का परिचय पाना आवश्यक है । निम्नलिखित तालिका से यह परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है —

राग	उद्बोधक भाव
सिरी	शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द
माझ	उत्साह, प्रेरणा (शान्ति)
गउड़ी	आत्म चिंतन, गम्भीरता, शान्ति
आसा	प्रसन्नता, आशा, मिलन
गुजरी	आशा, शान्ति उत्साह
देवगंधारी	प्रसन्नता
विडाहड़ा	दुःखी, वियोग
वडहंसु	वैराग्य, मिलन की तीव्र चाह
सोरठि	वैराग्य, मिलन की तीव्र चाह
धनासरी	थोड़ा दुःख मय दृष्टिकोण
जैतसरी	दुःखी
टोडी	वियोग
वैराड़ी	(शान्ति)
तिलंग	वैराग्य
सूही	आनन्द, इन्द्रियानुभूति
बिलावलु	शान्ति, संतुलन, आशा
गोंड	दुःखी, संयोग
रामकली	वैराग, आशा
नटनारायन	दुःखी
माली गउड़ा	दुःखी उमंग
मारू	पुरुष भाव, वीर भाव
तुखारी	दुःख भावना, प्रसन्नता
केदारा	दुःखी, वियोग
भैरउ	दुःखमय दृष्टिकोण

राग	उद्बोधक भाव
बसंत	आनन्द, संतुलन
सारंग	आनन्द, प्रसन्नता, वैराग्य
मलार	आनन्द, प्रसन्नता
कानड़ा	दुखी
कौलआन	प्रसन्नता
प्रभाती	शान्ति प्रसन्नता
जैजावंती	दुखी[1]

श्रीराग से लेकर तिलंगराग तक जो उद्बोधक भाव हैं उनमें प्रेरणा, आत्म-चिंतन, वैराग्य, दुःखमय दृष्टिकोण, आदि भाव जीव की उस स्थिति की ओर संकेत करते हैं जब वह संसार की असारता को, इसकी विविध विषमताओं को, इसके अज्ञानावृत अस्तित्व को समझकर अपनी स्थिति के प्रति दुःखी हो जाता है और संसार से उसे विरक्ति हो जाती है । यह अवस्था ही जीव को भगवदोन्मुख करती है । इसे आध्यात्मिक साधना का प्रथम सोपान कहा जा सकता है ।

सूहीसे लेकर भारू तक जो राग हैं उनके उद्बोधक भाव जीव की उस मनोदशा के द्योतक हैं जब वह संसार से विरक्त होकर भगवदोन्मुख हो जाता है। इस स्थिति में जीव की विविध मनोदशाएँ होती हैं । कभी तो वह अपनी वैराग्य भावना के कारण आनन्द, शान्ति, आशा, उमंग, आदि भावों से परिपूर्ण हो जाता है और कभी उसमें इन्द्रियानुभूति, संतुलन, आशा और आध्यात्मिक बाधाओं से जूझने के कारण वीर भाव उत्पन्न हो जाते हैं । यह आध्यात्मिक साधना का द्वितीय सोपान है । इसमें जीव को स्वयं से अत्यधिक संघर्ष करना

---

1 वाणी ब्यौरा, पृष्ठ 51—8।

पड़ता है । वह कभी आशान्वित होता है तो कभी निराशाक्रान्त पीड़ा से अभिभूत हो जाता है । किन्तु, अन्ततोगत्वा, वह अपनी साधना में सफल होता है और भगवान् के सामीप्य का, उसकी अनुकम्पा का, उसे अनुभव होने लगता है ।

तृतीय सोपान में जीव स्वयं को ब्रह्म में लीन मानकर तदाकार होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है । यही वह दशा है जहाँ पहुँचकर जीव सब प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है । तुखारी से लेकर भैरवी रागों के उद्बोधक भाव अधिकांशतया शान्ति, आनन्द और प्रसन्नता के सूचक होने के कारण जीव की इसी दशा के सूचक हैं ।

राग-क्रम के द्वारा आध्यात्मिक सोपानों की झलक अनायास ही नहीं है, वरन् सम्पादक की सूक्ष्म भाव-दृष्टि की सूचिका है । विषय-प्रधान वाणियों के क्रम में भी यही भाव-दृष्टि निहित है । नाम-स्मरण भक्ति का प्रमुखतम अंग है । जीव का भक्ति की ओर उन्मुख होना तथा इसकी साधना करना, उसकी प्रथम अवस्था है । जपुजी में नाम-स्मरण की प्रधानता है, अतः इस वाणी को संकलन में प्रथम स्थान दिया गया है । नाम-स्मरण करते-करते जीव स्वयं को ब्रह्म के इतने निकट समझने लगता है जैसे वह उसके द्वार पर ही खड़ा हो । 'सोदरु' इसी अवस्था का सूचक है । 'सो पुरखु' से जीव की उस ज्ञानदशा का बोध होता है जब वह ब्रह्म के स्वरूप को जान जाता है । इस ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वह ब्रह्म के विविध रूपों एवं विविध गुणों का यशोगान करता है । सोहिला इसी दशा की ओर संकेत करता है ।

यदि गुरु अर्जुनदेव की सम्पादन-कला केवल इसी दृष्टि से देखी जाए तो कहा जा सकता है कि काव्य-ग्रन्थ के शरीर को अलंकृत करने वाले सम्पादकों की अपार संख्या तो सहज ही मिल जाती है, किन्तु इतनी गम्भीर एवं सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले सम्पादक विरले ही होते हैं । गुरु अर्जुनदेव इसी उत्कृष्ट श्रेणी के सम्पादक हैं ।

रागों के इस बाह्य क्रम पर विचार करने के पश्चात् इनके आन्तरिक क्रम-निर्धारण में भी इनकी सम्प्रेषण-क्षमता की उत्कृष्टता स्पष्टतया मुखरित है । प्रत्येक राग में गुरुओं और भक्त कवियों की वाणियों संगृहीत हैं । सभी गुरुओं ने अपनी वाणियों प्रथम गुरु के नाम से ही प्रस्तुत की है, अतः गुरु वाणियों का पार्थक्य स्पष्ट करने के लिए इन वाणियों को महलों में विभाजित कर दिया गया है । प्रथम गुरु की वाणी महला १, द्वितीय गुरु की वाणी महला २, तृतीय गुरु की वाणी महला ३, चतुर्थ गुरु की वाणी महला ४ः पंचम गुरु की वाणी महला ५ में संगृहीत की गई है । गुरु-वाणियों को कालक्रम से रखा गया है, अर्थात् प्रथम गुरु की वाणी सबसे पहले और पंचम गुरु की वाणी सबसे बाद में है । इन वाणियों को भी शैली की दृष्टि से क्रमबद्ध किया गया है । जो इस प्रकार है —

1. पद (क्रमशः दुपदे, तिपदे, चौपदे)
2. अष्टपदि
3. विशेष लम्बी कविताएँ
4. छंत
5. अन्य सामान्य कविताएँ
6. वार ।

इस वर्गीकरण में भी रागों के आधार-स्वरूप घरों के अवरोह-आरोह का विधान है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में 17 घरों का प्रयोग है । एक ही प्रकार की वाणी कभी भी अवरोह से आरोह की ओर नहीं आती, अपितु सदैव ही आरोह से अवरोह की ओर ही चलती है । एक प्रकार की वाणी के समाप्त हो जाने पर पुनः दूसरे घर से आगे यह क्रम चलता है ।

किसी भी क्रम का निर्धारण करने के लिए मुख्यतः तीन आधार हो सकते हैं — कालक्रम का आधार, वाणी-संख्या के आधिक्य का आधार और

भाव-साम्य का आधार । भक्त-कवियों के क्रम का आधार निश्चित करने के लिए इन तीनों आधारों पर विचार करना ही उपयुक्त होगा । आदिग्रन्थ में प्रत्येक राग में संकलित भक्त कवियों की वाणी और उनकी संख्या निम्न-लिखित है —

सिरी राग	:	कबीर (2), त्रिलोचन (1), बेनी (1) रविदास (1)
गौड़ी राग	:	कबीर (74), नामदेव (1), रविदास (5)
आसा राग	:	कबीर (37), नामदेव (5), रविदास (6), धन्ना (2), फरीद (2)
गूजरी राग	:	कबीर (3), नामदेव (2), रविदास (1), त्रिलोचन (2), जयदेव (7)
सोरठ राग	:	कबीर (11), नामदेव (3), रविदास (7), त्रीवन (2)
धनासरी राग	:	कबीर (5), नामदेव (5), रविदास (3), त्रिलोचन (1), सैन (1), पीपा (1), धन्ना (1)
जैतसरी राग	:	रविदास (1)
टोडी	:	नामदेव (3)
तिलंग	:	कबीर (1), नामदेव (2)
सुही	:	कबीर (5), रविदास (3), फरीद (2)
बिलावल	:	कबीर (12), नामदेव (1), रविदास (2), सधना (1)
गौंड राग	:	कबीर (11), नामदेव (7), रविदास (2)
रामकली	:	कबीर (14), नामदेव (4), रविदास (1), बेणी (1)
माली गउड़ा	:	नामदेव (4)
मारू	:	कबीर (12), नामदेव (1), जयदेव (1), रविदास (2)
केदारा	:	कबीर (6), रविदास (1)
भैरव	:	कबीर (18), नामदेव (11), रविदास (1)

बसंत	:	कबीर (7), रामानंद (1), नामदेव (3), रविदास (1)
सारंग	:	कबीर (3), नामदेव (3), परमानंद (1), सुरदास (1) तुक
मलार	:	नामदेव (2), रविदास (3)
कान्हड़ा	:	नामदेव (1)
प्रभाती	:	कबीर (5), नामदेव (3), त्रैणी (1)

इस तालिका से स्पष्ट है कि इन कवियों की वाणी के संकलन में अपनाया गया क्रम-आधार न तो काल-आधारित है और न संख्या पर आधारित, क्योंकि इन भक्त-कवियों में जयदेव सबसे प्राचीन कवि है, किन्तु प्रधानता प्रायः कबीर, नामदेव और रविदास को मिली है । जयदेव की वाणियों का संकलन गूजरी राग और गारू राग में है । इन रागों में इनसे पूर्व जिन भक्त-कवियों की वाणियाँ संकलित है, वे सभी परवर्ती हैं, और फिर गूजरी राग में जयदेव से पूर्व रविदास की वाणियों का संकलन है। गारू राग में रविदास से पूर्व जयदेव की वाणियों का । इसी प्रकार दूसरे भक्त-कवियों की वाणियाँ भी काल-सम्मत-क्रम से नहीं है । अतः स्पष्ट है कि इन वाणियों में काल-क्रम को आधार नहीं बनाया गया ।

यदि संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो भी यह क्रम सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अनेक रागों में वाणी का अधिक्य होते हुए भी कवि को उस क्रम से स्थान नहीं मिला । जैसे – बसंत राग में नामदेव की तीन वाणियाँ हैं और रामानंद की एक, फिर भी रामानंद की वाणी पड़ते है और नामदेव की बाद में । सोरठ राग में नामदेव की तीन वाणियाँ है और रविदास की सात, फिर भी नामदेव की वाणियों के पश्चात् ही रविदास की वाणियों का संकलन है। अतः स्पष्ट ही सम्पादक का यह भी आधार नहीं रहा है ।

गुरु अर्जुनदेव की दृष्टि सम्पादन करते समय निश्चित रूप से भाव-प्रधान रही है, जिसका संकेत राग-विहीन प्रारम्भिक वाणियों में ही मिल जाता है । रागबद्ध वाणियों में गुरुओं के काल-क्रम पर दृढ़ रहने वाला सम्पादक इन वाणियों में गुरुओं के कालक्रम की भी उपेक्षा कर गया है और कुछ वाणियों का संकलन भाव-साम्य के आधार पर ही किया है । यथा – सो पुरखु की प्रथम वाणी महला 1 से प्रारम्भ होती है और महला 5 से समाप्त होती है । इन दोनों के बीच प्रथम गुरु की वाणी संकलित है । अतः असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि भक्त-कवियों की वाणियाँ भी भाव-साम्य के आधार पर क्रमबद्ध की गई हैं ।

भाषा-प्रधान वाणियाँ

भाषा-प्रधान वाणियों में जिस प्रकार की भाषा की बहुलता है, वह अन्य वाणियों में नहीं है । इसीलिए इन्हें इस शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है । वस्तुतः ये वाणियाँ इस ग्रन्थ का उपसंहार हैं । भाषा की क्लिष्टता के कारण जो वाणियाँ सुगम-गेय नहीं हैं, या रागबद्ध वाणियों में जिनका संकलन नहीं हो सका है, उन्हें इस भाग में संकलित कर दिया गया है । इस भाग में संकलित वाणियों का संक्षिप्त परिचय निम्न लिखित है —

1. सलोक सहस्कृती — इस वाणी में जिन श्लोकों का संग्रह किया गया है वे संस्कृत-भाषा के न होकर संस्कृत-भाषा की प्रकृति में विरचित हैं । मैकालिफ ने इनकी भाषा संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का सम्मिश्रण माना है ।[1] इसमें प्रथम गुरु के चार तथा पंचम गुरु के 67 श्लोक संगृहीत हैं । इसकी भाषा

---

1 सिख रिलीजन : मैकालिफ, भाग 3, पृष्ठ 430

तत्सम शब्दों के बाहुल्य के कारण तथा अनुस्वारांत बहुलता के कारण संस्कृत-जैसी प्रतीत होती है । कहीं-कहीं तो इसमें संस्कृत की विभक्तियों का भी प्रयोग हूबहू रूप में मिलता है ।

2. गाथा — इसमें गुरू अर्जुनदेव के 24 श्लोकों का संग्रह है । इसकी भाषा भी सलोक सहस्रकृती के समान संस्कृतनिष्ठ है । अनुस्वारांत होने के साथ-साथ इसमें अकार की बहुलता है । यह प्रकृति (अकार बहुलता) सलोक सहस्रकृति की भाषा में नहीं है । इसीलिए इसका पृथक् निर्देश करना सर्वथा उपयुक्त है ।

3. फुनहे — इसमें पंचम गुरू की 23 पौड़ियाँ हैं जो इन्होंने अपनी साली 'हरिजा' की प्रार्थना पर लिखी हैं । इसीलिए इनमें बार-बार हरिजी को सम्बोधित किया गया है"। यह वाणी आदिग्रन्थ की पहली वाणी है जिसमें किसी व्यक्ति-विशेष को सम्बोधित किया गया है । इसकी भाषा पंजाबी और संस्कृत का मिश्रण है ।

4. छंत बीते — यह वाणी भुसन, जमाल तथा इनके दो पुत्र समन और दतंग को सम्बोधित करके लिखी गई है । इसमें ।। पद हैं । इसके नामकरण का कारण सम्भवतः यही है कि यह चार व्यक्तियों को सम्बोधित की गई है ।[1] इसकी भाषा सरल, सरस एवं प्रभावमयी है । वक्तव्य को उदाहरण आदि से परिपुष्ट किया गया है ।

5. सलोक कबीर — जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें कबीर के श्लोक संगृहीत हैं जिनकी संख्या 243 है । साथ ही कुछ गुरुओं के भी श्लोक संकलित कर दिए गए हैं । कबीर के सिद्धान्तों को समझने में यह वाणी अत्यधिक सहायक है ।[2]

---

1 गुरमत सिन्धर, पृष्ठ 199
2 कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ 18

6. सलोक कबीर – इसमें कबीर के 130 तथा अन्य गुरुओं के भी कुछ श्लोक संगृहीत हैं। जिस प्रकार कबीर के वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए गुरु-वाणियों की व्याख्या तथा आलोचना के रूप में 'श्लोक कबीर' में प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार इसमें कबीर के श्लोकों की गुरु-वाणियों के माध्यम से व्याख्या एवं आलोचना की गई है।

7. गुरु तथा भट्टों के सवैये – इसमें गुरु अर्जुनदेव ने 9 सवैयों में गुरु-यश-स्तुति की है और 11 में उपदेश दिये हैं। इसके पश्चात् 11 भट्टों के 123 सवैये इसमें संगृहीत हैं। भाषा साधारण पंजाबी है, जो सरस है।

8. श्लोक वारों तो बाहीक – इस शीर्षक के अन्तर्गत द्वितीय गुरु के अतिरिक्त शेष तथा सभी गुरुओं के वारों से बचे हुए 21 श्लोक संगृहीत हैं।

9. मुंदावणी – भारतीय नाटकों में भरत-वाक्य का जो स्थान है, वही आदिग्रन्थ में इस वाणी का है। सबके कल्याण की कामना इसमें संगृहीत दोनों श्लोकों में की गई है। साथ ही सत्य, संतोष और विचार इन तीनों का महत्व बताकर सद्गुरु द्वारा अमृत-सी नाम को प्राप्त करके ही ब्रह्मानुभूति का संदेश दिया गया है। वस्तुतः यही तो आदिग्रन्थ का सार तत्व है। भारतीय वाङ्मय में ऐसी परम्परा रही है कि किसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का अपेक्षाकृत अल्प शब्दों में सारतत्व संकेतित कर दिया जाए। गुरु अर्जुनदेव ने भी इस वाणी में इसी परम्परा का पालन किया है।

10. रागमाला – ग्रन्थ के अंत में 'रागमाला' दी गई है। न तो इस रागमाला में ही ग्रन्थ के सभी रागों का वर्णन है और न ही ग्रन्थ में इस रागमाला के सब राग मिलते हैं। इसीलिए इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध मानी गई है।

वाणियों का यह वर्गीकरण भी गुरु अर्जुनदेव की सम्पादन-कला की महत्ता का सूचक है । भाषा और छंद के आधार पर तो इन वाणियों का वर्गीकरण किया ही गया है, साथ ही फुनहे, बउमोले आदि वाणियाँ अपने प्रकार की ही वाणियाँ होने के कारण अन्य वाणियों से पृथक् होनी उपयुक्त ही है ।

भाषा का स्वरूप

सम्पादित ग्रन्थ की भाषा के प्रति भी सम्पादक का महान् उत्तरदायित्व होता है । आदिग्रन्थ की उत्कृष्ट, रागबद्ध एवं भावनुसारिणी भाषा के स्वरूप को देखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव ने अपने इस उत्तरदायित्व का भी पूर्ण सफलता से निर्वाह किया है । हम पहले बता चुके हैं कि गुरु अर्जुनदेव को श्रुति के माध्यम से भी अनेक वाणियाँ प्राप्त हुई थीं । इन वाणियों में राग-भेद, छन्द-भेद, भाषा का अव्यवस्थित रूप और भावों की विशृंखलता आदि दोषों का आना स्वाभाविक है, अतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि गुरु अर्जुनदेव को भी अनेक वाणियाँ इन्हीं दोषों से दूषित मिली हों । इन्होंने जिस प्रकार इनका संशोधन करके आदिग्रन्थ में संकलित किया है, यह इनकी विद्वत्ता तथा सम्पादन-कला की महत्ता का द्योतक है ।

आदिग्रन्थ का महत्त्व

आदिग्रन्थ मुलतः आध्यात्मिक कृति है । इसमें सिख-धर्म की प्रतिष्ठा है । किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें धर्म को संकीर्ण नहीं बनाया गया, वरन् उदार बनाकर जन-सामान्य के लिए ग्राह्य बनाया गया है । इसी उदार दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए इसमें गुरुवाणियों के अतिरिक्त भुलाडे कबीर, चमार रैदास, छीपी नामदेव, नाई सैन, जाट धन्ना और कसाई सधना की वाणियाँ भी संकलित की गई हैं । इन वाणियों से

परोक्ष रूप में यह बताया गया है कि धर्म किसी जाति या वर्ग-विशेष की बपौती नहीं है, और न धर्म ऊँच-नीच की भावना से प्रभावित है। धर्मक्षेत्र में सभी जातियाँ और सभी वर्ग समान हैं, सभी समान अधिकारों से सम्पन्न हैं। धार्मिक क्षेत्र में इस ग्रन्थ की यह महती देन है।

धार्मिक विचारों की जटिलता को मिटकर भक्त के लिए सहज सुलभ मार्ग प्रशस्त करना भी इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में व्यक्त विचारों में दार्शनिक वाद-विवादों को उलझाया नहीं है, वरन् भावों का सीधा सरल राजपथ है। धर्म-साधना को व्यावहारिक रूप देने के लिए इसमें संन्यास का विरोध कर निर्लिप्त गृहस्थ-जीवन तथा निष्काम तथा कर्मण्य जीवन का महत्व प्रतिपादित किया गया है। नाम-मार्ग का प्रवेश द्वार खोलकर जन-सामान्य की भावनाओं को प्रोत्साहित किया गया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का धर्म सिख-धर्म नहीं, बल्कि 'दिव्य' धर्म है जो मानव-धर्म का ही पर्यायवाची है। मानव-धर्म के माध्यम से समाज में समता का प्रचार और प्रसार करना इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी सामाजिक देन है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रणयन साहित्यिक दृष्टि से नहीं हुआ, तथापि इससे साहित्यिक क्षेत्रों को महती प्रेरणाएँ मिली हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। नवीन छंद, राग एवं स्वरों का संधान आदि विशेषताएँ जो पंजाबी साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं, इसी ग्रन्थ के प्रभाव-स्वरूप हैं। पंजाबी एवं संत लेखकों के लिए यह ग्रन्थ आज भी आदर्श बना हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इस ग्रन्थ में तत्कालीन भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। अतः युग-विशेष के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ इतिहासकारों के लिए परम सहायक है। डा. धर्मपाल मैनी के शब्दों में —

"इस प्रकार 'ग्रन्थ' आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक तथा संगीतात्मक सभी दृष्टियों से भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करता हुआ राष्ट्रीय जागरण का संदेश लेकर आया । यह संदेश ही अमर 'ग्रन्थ' के अमरत्व का सूचक बनकर युग-युग तक राष्ट्र को निनादित करता रहेगा । "[1]

सारांश

गुरु अर्जुनदेव के समय तक आते-आते सिख-गुरुओं की प्रतिष्ठा तो स्थापित हो गई थी, किन्तु उनके नाम पर झूठी प्रतिष्ठा के लोलुप मनुष्य रचना भी करने लगे थे । इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में अव्यवस्था और अधर्म फैलता जा रहा था । इसीलिए इन्होंने गुरुओं की वाणी की रक्षा के लिए और सिख-धर्म को उदार बनाने के लिए आदिग्रन्थ का सम्पादन किया । इसमें इन्होंने पाँच गुरुओं, (सुन्दर, सत्ता-बलवंत और भरवाना सहित) 15 भक्तों और 11 भाटों की वाणियाँ संकलित कीं । ये वाणियाँ इनमें कुछ तो गुरु-गद्दी परम्परा से लिपिबद्ध प्राप्त हुईं और कुछ का इन्होंने अपने प्रयत्नों से विशेषतः श्रुति से, संग्रह किया । आदिग्रन्थ में संगृहीत वाणियों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है — विचार-प्रधान वाणियाँ, रागबद्ध वाणियाँ और भाषा-प्रधान वाणियाँ । विचार-प्रधान वाणियाँ वस्तुतः आदिग्रन्थ का प्रवेश द्वार है जिसे काव्यशास्त्रीय शब्दावली में वस्तु निर्देश कहा जा सकता है । रागबद्ध वाणियाँ 31 रागों में विभक्त हैं । रागों की संयोजना में आध्यात्मिक सोपानों की — संसार से वैराग्य होना, भगवदोन्मुख होना और अलौकिक आनन्द की अनुभूति करना — की क्रमिक झलक स्पष्ट दिखाई देती है। भाषा-प्रधान वाणियों में भाषा का जो रूप दिखाई देता है वह अन्य वाणियों में नहीं है । वस्तुतः ये वाणियाँ आदिग्रन्थ का उपसंहार कही जा सकती हैं ।

यदि सम्पादन कला की दृष्टि से आदिग्रन्थ की सामग्री पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव महान् सम्पादक हैं। सामग्री की सुव्यवस्था के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के विधान अपनाए हैं। यदि वाणियों का विभाजन विचार, राग और भाषा के आधार पर किया है तो रागों की योजना में आध्यात्मिक मार्ग की सुयोजना करके अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। सभी गुरुओं की वाणी प्रथम गुरु नानकदेव के नाम पर रची गई थी, अतः प्रत्येक गुरु की वाणी का पार्थक्य प्रदर्शित करने के उन्होंने उन्हें महलों में विभाजित किया है। विभाजन का आधार अत्यंत सुनिश्चित है। रागबद्ध वाणियों को शैली की दृष्टि से पद, अष्टपदियों विशेष लम्बी कविताएँ, छंत और वार में विभक्त किया गया है। इस वर्गीकरण में रागों के आधार-स्वरूप घरों के अवरोह-आरोह का विधान है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 17 घरों का प्रयोग है। एक ही प्रकार की वाणी कभी भी अवरोह से आरोह की ओर नहीं जाती, अपितु सदैव ही आरोह से अवरोह की ओर चलती है। इस प्रकार वाणी के समाप्त हो जाने पर पुनः दूसरे घर के आगे यह क्रम चलता है। इस प्रकार का वर्गीकरण विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न सम्पादक ही कर सकता है।

जिस प्रकार आदिग्रन्थ आध्यात्मिक विचारों का अपूर्व भंडार है उसी प्रकार धर्मोदारता की दृष्टि से भी अनुपमेय है। विभिन्न सम्प्रदाय के संतों की वाणियों इस कथन का अकाट्य प्रमाण है। भाषा के स्वरूप में भी यह उदारता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इसीलिए इसकी भाषा, पंजाबी वालों को पंजाबी, हिन्दी वालों को हिन्दी और ब्रज वालों को ब्रज भाषा दिखाई देती है। अतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव की सम्पादन-कला अप्रतिम है।

*****
***
*

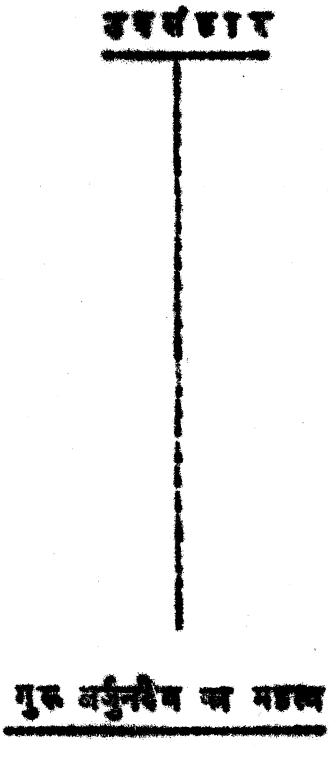
हरसहाय
गुरु अर्जुनदेव जी महाराज

उपसंहार

भारत भूमि का महान् अन्तस्तल अनादिकाल से ही आध्यात्मिक भावनाओं से सुशोभित है, इसलिए यहाँ पर मतों की विशाल तथा विविधता रही है। इन मतों के सगुणोपासक और निर्गुणोपासक ये दो वर्ग प्रमुख रहे हैं। गुरु अर्जुनदेव भी इसी महान् परम्परा के एक उज्ज्वल रत्न हैं।

भारतीय साहित्य सदा से ही दार्शनिक विचारधाराओं से आपूर्ण रहा है। गुरु अर्जुनदेव के काव्य में भी इसी विचारधारा की प्रधानता है। अन्य गुरुओं और संत कवियों की भाँति यद्यपि ये भी मूलतः निर्गुणोपासक ही रहे हैं किन्तु भावना के क्षेत्र में इन्हें भी ब्रह्म का सगुण रूप ही सौन्दर्य रहा है। फलतः इनके काव्य में ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों का ही वर्णन प्रचुरता से मिलता है। अव्यक्त रूप के अन्तर्गत इन्होंने ब्रह्म के एकमेव ब्रह्म, सत्यरूप ब्रह्म, अतीत रूप ब्रह्म, अनिर्वचनीय सत्य रूप ब्रह्म और रहस्यमय रूप ब्रह्म का तथा व्यक्त रूप के अन्तर्गत माता पिता सम्बन्ध, सेव्य-सेवक सम्बन्ध सख्य-सम्बन्ध, दाता-भिखारी सम्बन्ध और दाम्पत्य-सम्बन्ध का विशेष रूप से वर्णन किया है। भारतीय दर्शनों में अविद्या के आधार पर जीव और आत्मा में भेद स्वीकार किया गया है अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को जीव और शुद्ध जीव को आत्मा कहा गया है, अन्य सन्तों की भाँति गुरु अर्जुनदेव ने भी इस

दार्शनिक का उच्चगवेषन निर्वाह नहीं किया है, अथवा इन्होंने इस पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया है । इसीलिए इनके काव्य में जीव और आत्मा प्रायः पर्यायवाची हैं । जीव और ब्रह्म का अखंडी सम्बन्ध होते हुए भी जीव के मार्ग में भी कठिनाईयाँ आती हैं, सांसारिक विषयों के वशीभूत होकर जीव जिन दुखों को भोगता है और जिन साधनों से वह जीवन मुक्त होकर सच्चिदानन्द को प्राप्त होता है इन सभी का वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने विस्तार से किया है । माया को इन्होंने भी साधना का प्रमुखतम बाधक तत्व माना है और इसके अनेक रूपों का वर्णन किया है । इस विषय में इनके मन्तव्य की प्रमुख विशेषतायें ये हैं — माया की स्वतंत्र सत्ता नहीं, यह परमात्मा की ही सृष्टि है, माया परमात्मा के वशीभूत रहती है, माया त्रिगुणात्मक है, माया की प्रतीति अनादि है और माया ही अज्ञान आदि की जननी है । भारतीय दार्शनिकों ने सृष्टि-रचना का वर्णन भी विस्तार से किया है और ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता तथा सृष्टि को उसका प्रतिविम्ब माना है । गुरु अर्जुनदेव ने भी सृष्टि-रचना का वर्णन करते समय इसी परम्परा का अनुसरण किया है ।

भगवत् प्राप्ति के योगमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग ये चार मार्ग बताए गए हैं । इनमें भक्ति मार्ग अपनी सरलता तथा सुगमता के कारण अधिक ग्राह्य और प्रचारित रहा है । भक्ति के दो भेद हैं — वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति । वैधी भक्ति में विधि-विधानों की जटिलता होती है इसीलिए सन्तों ने रागा-भक्ति को ही अपनाया है । गुरु अर्जुनदेव ने भी भक्ति के इसी भेद का विस्तृत वर्णन किया है । नारदभक्तिसूत्र में रागा-भक्ति की ग्यारह आसक्तियों का वर्णन है — गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, परमविरहासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति । गुरु अर्जुनदेव ने इन सभी आसक्तियों के वर्णन द्वारा रागाभक्ति का स्वरूप वर्णित किया है । गुणमाहात्म्यासक्ति के अन्तर्गत इन्होंने परमात्मा के विविध गुणों का और उसकी महानता का वर्णन किया है । इनके

अनुसार परमात्मा के गुण ही भक्त की भावना में आत्मा रूप निष्ठा उत्पन्न करके उसे भवसागर से पार उतारते हैं और उसके मन का सन्तुष्य मिटा कर उसे सच्चा भक्त बनाते हैं। गुरु वर्णनदेव मुख्यतः ज्ञानमार्गी निर्गुणोपासक हैं अतः इनकी स्तुतियों में परमात्मा के उन विभिन्न तथा मनोहारी रूपों का उनके अंग प्रत्यंग का वैसा सजीव वर्णन नहीं मिलता जैसा सगुण-भक्त कवियों में। बड़ी कारण है कि इनके स्तुतियों के वर्णन में सजीवता का अभाव है। इनकी पूजास्तुति भी उस पूजास्तुति से भिन्न है जो ब्रह्म को सगुण मान कर पुष्प दीप नैवेद्य आदि पूजा के उपकरणों से की जाती है। जिस प्रकार इनकी भक्ति केवल भावात्मक है उसी प्रकार इनकी पूजा स्तुति भी भावात्मक होने के कारण सूक्ष्म है। स्मरणस्तुति के अन्तर्गत इन्होंने नाम स्मरण को विशेष महत्व दिया है। इन्होंने साधारण और पारमार्थिक दोनों प्रकार के दुखों की सहज उत्पत्ति का कारण नाम स्मरण को ही बताया है। वन्दनास्तुति और सख्यास्तुति में इन्होंने अपने सरल भक्त हृदय का परिचय दिया है। कीर्तनस्तुति में वर्णन की विविधता होते हुए भी अपेक्षित मधुरता तथा सजीवता का अभाव है, किन्तु इस सम्बन्ध के कारण से जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की अवतारणा की गई है वह पर्याप्त प्रभाव-पूर्ण है। आत्मनिवेदनस्तुति में इन्होंने परमात्मा का पिता रूप में ही विशेष रूप से वर्णन किया है। तन्मयतास्तुति में तन्मयता की जैसी स्थिति इनके काव्य में नहीं मिलती वैसी सूर और अन्य सगुण-कवियों में पाई जाती है। परमविरहस्तुति में यत्र-तत्र वैशिष्ट्य योग होने से भावात्मकता को क्षति पहुँची है। क्योंकि इनका विरह वर्णन अनुकूल न होकर बुद्धिसाध्य ही अधिक है। आत्मनिवेदनस्तुति में भक्त का दैन्य भाव सफलता पूर्वक मुखरित हुआ है। स्तुति के सोपानों में इन्होंने पूर्वजन्म के कर्मों को विशेष महत्व दिया है। अहंकार और माया को इनके अवरोधक प्रतिनिधि माना है तथा इनका प्रभावशाली वर्णन किया है। भक्ति मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने वाले उपकरणों में गुरु और साधुसंगति का विशेष रूप से वर्णन किया है। शिष्य के गुणों का भी इन्होंने पर्याप्त वर्णन किया है। क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति गुरु सहज ही प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार

प्रत्येक व्यक्ति शिष्य बनकर गुरुकृपा का अधिकारी नहीं हो सकता । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भक्तों में से इन्होंने ज्ञानी भक्त को ही उत्तम माना है और उसी का सविस्तार वर्णन किया है ।

गुरु अर्जुनदेव का काव्य श्रम साध्य न होकर सहज भावनाओं से अनुप्राणित है । फलतः इनमें सफल काव्य के अपेक्षित गुण अनायास ही मिल जाते हैं । इनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है । जिसकी सरलीकरणीयता में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है । इनकी रस योजना यद्यपि रससिद्ध कवियों की योजना की भाँति श्रम साध्य और अलंकृत नहीं है तथापि इनके काव्य में शांत रस, भक्ति रस, शृङ्गार रस, वीर रस, करुण रस, अद्भुत रस, हास्य रस और भयानक रस की संयोजना सरल एवं भावपूर्ण है । भक्ति को विविध विचारधाराओं से प्रभावित करके और उनकी सांस्कारिक प्रक्रियाओं से स्नात कराके उनको सुदृढ़ और निर्मल बनाना इनका ध्येय है । इनकी सरल योजना इस ध्येय की पूर्ति में सहायक है । इनकी कल्पना भक्ति प्रतिपाद्य का सजीव वर्णन करने में पूर्णतया सक्षम है । क्योंकि इन्होंने प्रतिपाद्य के अनुसार ही कल्पना का प्रयोग किया है । जहाँ इन्होंने विराट तत्वों का चित्रण किया है वहाँ पर इनकी विराट कल्पना और जहाँ मधुर तत्वों का चित्रण किया है वहाँ मधुर कल्पना ही परिलक्षित होती है । प्रकृति का भी पर्याप्त चित्रण इनके काव्य में मिलता है किन्तु प्रकृति कवियों की भाँति न तो इन्हें प्रकृति के सौन्दर्य से लगाव था और न इन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण ही किया था । संत-कवियों का प्रकृति के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रहा है । वे अपने आध्यात्मिक-भक्ति के साधन रूप में ही प्रकृति का प्रयोग करते थे । ऐसा ही गुरु अर्जुनदेव ने भी किया है । भाषा के प्रति गुरु अर्जुनदेव का दृष्टिकोण अत्यंत उदार रहा है । फलतः इन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत, पंजाबी, लहंदी, सिंधी, ब्रज भाषा और अरबी फारसी के शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है भाषा की भक्ति को सरस बनाने वाले अलंकारादि तत्वों का भी इनके काव्य में सहज प्रयोग मिलता है । प्रतीकों का भी इन्होंने प्रचुरता से प्रयोग किया है । इनके प्रतीक परम्परागत ही है जिन्हें मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — साधना पद्धति से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक प्रतीक, संध्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त प्रतीक,

छंद अन्वेषित के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक इकाई और उसटवाँसियों के प्रतीक। संगीतात्मकता की दृष्टि से इनका काव्य आपात मनोहर है। इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने काव्य की रचना संगीत के माध्यम से प्रसार के लिए की है। इन्होंने तीस रागों का सफल प्रयोग अपने काव्य में किया है। रागों के अतिरिक्त छंद और छंद की संगीतात्मकता को प्रभावशाली बनाने में सहायक हुए हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों में दोहड़, सोरठा, अनंगतुला, कण्डल, गीता, चन्दला, छंत, पउड़ी, दुनका, दुबेया, निशानी आदि मुख्य हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि गुरु अर्जुनदेव की काव्य-कला स्वाभाविक रूप से उन गुणों से मंडित है जो सफल काव्य की सफलता के लिए अपेक्षित होते हैं।

गुरु अर्जुनदेव के समय तक आते आते सिख गुरुओं की प्रतिष्ठा सो स्थापित हो गई थी किन्तु इनके नाम पर झूठी प्रतिष्ठा के लोलुप मनुष्य रचना भी करने लगे थे। इन्होंने गुरुओं की वाणी की रक्षा के लिए और सिख धर्म को उदार बनाने के लिए आदि ग्रन्थ का सम्पादन किया। जिसमें इन्होंने पाँच गुरुओं, अठारह भक्तों (कबीर, रवि और बलवंत तथा सत्ता सहित) और ग्यारह भाटों की वाणियाँ संकलित कीं। इनमें ये वाणियाँ कुछ तो गुरुद्वारा परम्परा से लिपिबद्ध प्राप्त हुईं और कुछ का इन्होंने श्रुति-परम्परा से अपने प्रयत्नों से संग्रह किया। इन वाणियों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है – विचार प्रधान वाणियाँ, राग बद्ध वाणियाँ और भाषा प्रधान वाणियाँ। विचार प्रधान वाणियाँ वस्तुतः आदि ग्रन्थ का प्रवेश द्वार है। राग बद्ध वाणियाँ 31 रागों में निबद्ध है। रागों की संयोजना में आध्यात्मिक सोपानों की क्रमिक झलक स्पष्ट दिखाई देती है। भाषा प्रधान वाणियों में भाषा का रूप भिन्न है। वस्तुतः ये वाणियाँ आदि ग्रंथ का उपसंहार कही जा सकती हैं। यदि सम्पादन कला की दृष्टि से आदि ग्रन्थ की सामग्री पर विचार किया जाए तो गुरु अर्जुनदेव की सम्पादक के रूप में भी महानता स्पष्ट हो जाती है। संकलित सामग्री की सुव्यवस्था के लिए इन्होंने अनेक प्रकार के विधानों का प्रयोग किया है। यदि वाणियों का विभाजन विचार, राग और भाषा के आधार पर किया है तो रागों की योजना में आध्यात्मिक मार्ग की सुयोजना करके अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। प्रत्येक गुरु की वाणी का प्रामाण्य प्रदर्शित करने के लिए उसे मंत्रों में विभाजित किया है। विभाजन का यह आधार अत्यंत

सुनिश्चित है । राग पद्धति वाणियों की शैली की दृष्टि से पद, अष्टपदियाँ, विशेष लम्बी कविताएँ, छंद और वार में विभक्त किया गया है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में 17 वारों का प्रयोग है । इस प्रकार का वर्गीकरण विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न सम्पादक ही कर सकता है । वाणियों के संकलन से और प्रयुक्त भाषा के स्वरूप से इस ग्रन्थ की बाह्य सामग्री तथा भाषा में महती उदारता स्पष्टतया परिलक्षित होती है । वस्तुतः यह ग्रन्थ गुरु अर्जुनदेव की महती सम्पादन कला का अतिरिक्त प्रमाण है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जहाँ गुरु नानकदेव ने गुरु परम्परा का श्रीगणेश किया वहीं गुरु अर्जुनदेव ने उसे सम्बद्ध रूप प्रदान कर न केवल सक्षमता ही किया, अपितु स्थायित्व भी प्रदान किया । स्वतः गुरु अर्जुनदेव इसके मुक्ताहार के केन्द्र बिन्दु बन गए तथा युग युग तक मार्ग को प्रशस्त करने वाले ज्योति स्तम्भ बन गया इनका सम्पादित 'आदि ग्रन्थ' । इनकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने अपने गुरुत्व की गद्दी में सम्मानित करके इसे अनंत काल के गुरुत्व पर सुशोभित कर दिया और यही गुरुग्रन्थसाहिब बनकर अक्षुण्ण ज्योति का प्रकाशक बना हुआ है और सदा बना रहेगा ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अलंकार-मंजरी	:	नरेन्द्रप्रभ सूरी
उपनिषद् (शांकर भाष्य)	:	वाणी वितान प्रैस, बम्बई
ऋग्वेद-संहिता	:	वैदिक संशोधन मंडल
काव्यप्रकाश	:	मम्मट
काव्यालंकार	:	भामह
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	:	वामन
गाथासप्तशती	:	हाल
चैतन्य-संहिता	:	सम्पादक श्रीशचन्द्र वसु
नाट्यशास्त्र	:	भरतमुनि
ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)	:	अनुवादक ए. आर. जोशी
ब्रह्मसूत्र (शंकर भाष्य-सहित)	:	पं. वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री
ब्रह्मसूत्र भाष्यम्	:	अनुवादक रामानुज
भक्तिरसामृतसिंधु	:	रूप गोस्वामी
भक्तिसूत्र	:	नारद
भर्तृहरिशतक	:	भर्तृहरि

रसगंगाधर	:	जगन्नाथ
रसतरंगिणी	:	भानुदत्त
संगीत-रत्नाकर	:	शार्ङ्गदेव
साहित्य दर्पण	:	विश्वनाथ
साहित्य-मीमांसा	:	साहित्य

हिन्दी - ग्रन्थ

उत्तरी भारत की संत परम्परा	:	परशुराम चतुर्वेदी
कबीर	:	डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी
कबीर-ग्रन्थावली	:	सम्पादक डा. श्यामसुन्दरदास
कबीर दर्शन	:	डा. रामजीलाल सहायक
कबीर की भाषा	:	डा. महेन्द्र
कबीर : एकविवेचन	:	डा. सरनामसिंह शर्मा
गीता-रहस्य	:	लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
गुरु अर्जुनदेव की वाणी	:	भाषा-विभाग पंजाब (पटियाला)
गुरु नानक-वाणी	:	डा. जयराम मिश्र
गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य	:	डा. हरिभजन सिंह
चिंतामणि	:	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
छंदप्रभाकर	:	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
निर्गुण काव्यधारा	:	सिद्धनाथ तिवारी
बिहारी-रत्नाकर	:	जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'
भक्ति का विकास	:	डा. मुन्शीराम शर्मा
भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास	:	शिवशंकर मिश्र
भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास	:	सत्यकेतु विद्यालंकार
मध्यकालीन धर्म-साधना	:	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन भारत	:	वी. डी. गुप्त

मध्यकालीन भारत	:	परमात्मा शरण
रस-सिद्धान्त	:	डा. नगेन्द्र
रामचरितमानस	:	गोस्वामी तुलसीदास
रीतिकाव्य की भूमिका	:	डा नगेन्द्र
संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण	:	डा. मनमोहन सहगल
संतसाहित्य	:	डा. सुखदेव सिंह मनोहिया
संत दर्शन	:	डा. त्रिलोकी नारायण दीक्षित
संत साहित्य	:	भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र
संत कबीर	:	डा. रामकुमार वर्मा
संतों के धार्मिक विश्वास	:	डा. धर्मपाल मैनी
समीक्षाशास्त्र के भारतीय मापदण्ड	:	डा. रामसागर त्रिपाठी
संस्कृत साहित्य का इतिहास	:	कन्हैयालाल पोद्दार
सूरसागर	:	सम्पादक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
श्री गुरुग्रन्थसाहिब - एक परिचय	:	डा. धर्मपाल मैनी
श्री गुरुग्रन्थसाहिब (हिंदी संस्करण परिचय)	:	शिरोमणि गु. प्र. कमेटी अमृतसर
श्री गुरुग्रन्थसाहिब दर्शन	:	डा. जयराम मिश्र
हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा में प्रेमित	:	श्यामसुन्दर शुक्ल
हिन्दी काव्यालंकार सूत्र	:	सम्पादक डा. नगेन्द्र
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	:	डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
हिन्दी निर्गुण काव्य	:	डा. गोविन्द त्रिगुणायत
हिन्दी में शब्दालंकार-विवेचन	:	डा. देशराजसिंह भाटी
हिन्दी साहित्य की भूमिका	:	डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य की बृहत् इतिहास	:	चतुर्थ भाग
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	:	डा. रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य का इतिहास	:	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य	:	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य की भूमिका	:	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

कोश - ग्रन्थ

साहित्य कोश (प्रथम भाग)

साहित्य कोश (द्वितीय भाग)

वृहद हिन्दी कोश

पंजाबी - ग्रन्थ

आदिबीड़ बारे	:	प्रो. साहिब सिंह
कुछ होर धार्मिक लेख	:	प्रो. साहिब सिंह
गुरमत दर्शन	:	डा. बेरसिंह
गुरमत लैक्चर	:	ज्ञानी प्रताप सिंह
गुरमत सिद्धान्त	:	ज्ञानी प्रताप सिंह
गुरपुर प्रकाश (भाग 2)	:	कवि संतोख सिंह
गुरप्रताप सूरज ग्रन्थ	:	भाई संतोख सिंह
गुरु अर्जुनदेव और संत दादूदयाल	:	डा. करतार सिंह सूरी
गुरु अर्जुनदेव	:	प्रो. साहिब सिंह
गुरु ग्रन्थसाहिब जी दा साहित्यिक इतिहास	:	डा. तारन सिंह
गुरु छन्द दिवाकर	:	भाई चन्द सिंह
गुरबिलास पातशाही 6	:	कवि भोदन जी, सम्पादक ज्ञानी सुंदर सिंह गिल
गुरु नानक दर्शन	:	डा. कालासिंह बेदी
गुरु नानक बाणी	:	डा. कालासिंह बेदी
गुरु नानक चिंतन दे कला	:	डा. तारन सिंह
गुरु नानक विचारधारा	:	डा. रत्नसिंह जग्गी
तवारीख गुरु खालसा	:	ज्ञानी ज्ञानसिंह
दार्शनिक सिख इतिहास	:	प्रीतम सिंह
धर्म दे सदाचार	:	प्रो. साहिब सिंह

पंजाब दा इतिहास	:	प्रो. जोगिन्दर सिंह
पंजाबी दुनिया	:	गुरु अर्जुनदेव अंक
वंसावली नामा	:	केसर सिंह छिब्बर
भाई गुरदास	:	हरिहर सिंह जस
भक्त दर्शन	:	ज्ञानी प्रताप सिंह
भक्त वाणी	:	पं. तारा सिंह
भक्ति ते शक्ति	:	डा. नारन सिंह
महान कोश	:	काहनसिंह नाभा
वारां	:	भाई गुरदास
वाणी ब्यौरा	:	डा. वरण सिंह
सिखी ते सिख इतिहास	:	शमशेर सिंह अशोक
सुखमनी साहिब सटीक	:	प्रो. साहिब सिंह
साहित्य दी परख	:	डा. गोपाल सिंह
शब्दारथ	:	तेजा सिंह
श्री गुरग्रन्थ दर्पण (दसवाँ भाग)	:	प्रो. साहिब सिंह
श्री गुरग्रन्थ साहिब जी की साहित्यिक विशेषता	:	डा. गोपाल सिंह

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

A Critical Study of Adi Granth	:	Dr. Surinder Singh Kohli
Adi Granth	:	Trum Ernest
Arrangements of Adi Granth (Article)	:	Fredrik Pinkot
A Short History of Muslimrule in India	:	Ishwari Parsad
Evolution of Khalsa	:	Sir Gokul Chand Narang
Gospels of Guru Granth Sahib	:	Duncan Greenless

story of Sikhs	:	Principal Teja Singh
story of Panjab Literature	:	Dr. Mohan Singh
story of Sikhs	:	Cunningham
tory of Indian Philosophy	:	Dr. Radha Krishnan
ian Bhakti Tradition and Sikh Gurus	:	Darshan Singh
Lines of Religious Literature of India	:	Farquhar
Lines of Sikh houghts	:	Dr. Surinder Singh Kohli
Phosophy of Sikhism	:	Pro. Sher Singh
Sh History of Sikhs	:	Teja Singh Ganda Singh
Martyrs	:	Lachman Das
Book of Ten Masters	:	Puran Singh
Sikh Religion	:	M.A. Macaullif
Janamsakhi of Guru Gnd Singh	:	Kapoor Singh
Transformation of khism	:	Indu Bhushan Banerjee